73

कल्याण



भक्ति योग

[भक्ति और योग, आत्मा और परमात्मा तथा सगुण-निर्गुण उपासना आदि के द्वारा भगवत्प्राप्ति विषयक विवेचनात्मक अभूतपूर्व ग्रन्थ]

सम्पादक :

डा० चमनलाल गौतम

रचयिता—मन्त्र महाविज्ञान, तन्त्र महाविज्ञान, उपासना महाविज्ञान, शिव-रहस्य, देव रहस्य, मन्त्र योग, मन्त्र शक्ति से रोग निवारण, कामना सिद्धि, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग आदि

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, (वेद नगर)

बरेली—२४३००१ (उ० प्र०)

प्रकाशक :
डॉ० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००१ (उ.प्र.)
शाखा :
गली सेठ भीकचन्द, मथुरा

★

लेखक :
कविराज दाऊदयाल गुप्त
मथुरा

★

प्रथम संस्करण १९७५

मुद्रक :
देवदत्त मिश्र
यमुना प्रिन्टिंग प्रेस,
आर्य समाज रोड, मथुरा।

★

मूल्य :
पाँच रुपये पिचहत्तर पैसे मात्र।

भूमिका

'भक्ति योग' के दो शब्द 'भक्ति' और 'योग' दोनों ही अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं। परन्तु जब यह दोनों एक हो जाते हैं, तब इनकी महिमा भी बहुत बढ़ जाती है। यह दोनों शब्द मिल कर आत्मा-परमात्मा और सर्ग एवं प्रलय का रहस्य खोल डालते हैं। वह रहस्य, जिसे अन्य प्रकार से समझना भी वस्तुतः एक समस्या होती है।

कुछ विज्ञ पुरुषों के अनुसार भक्ति का अर्थ 'प्रेम' और योग का अर्थ 'रज्जु' (रस्सी) है, जब इन दोनों में गठबन्धन हो जाता है तब भक्त अपने हृदय को भगवान् के चरण-कमलों से बाँधने में समर्थ हो जाता है।

भक्ति का योग के साथ योग होने पर भक्त का चित्त सांसारिक विषयों से दूर होने और भगवान् की परम अनुरक्ति में निमग्न होकर स्वयं को भी भूलने लगता है। क्योंकि जब तक वह स्वयं को नहीं भूलेगा तब तक वह भगवान् को प्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि—

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

—गीता १२।२४

अर्थात्—जो योगी लाभ-हानि में निरन्तर सन्तुष्ट, इन्द्रादि के सहित शरीर को वश में किये हुए और मेरे में दृढ़ निश्चयवान् है, वह मेरे में अर्पित मन-बुद्धि वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

भक्ति के ग्यारह स्वरूप

नारद भक्तिसूत्र ८२ में भक्ति के ग्यारह स्वरूपों का वर्णन है—(१) भगवान् के गुण और माहात्म्य में अनुराग, (२) उनके रूप में अनुराग, (३) उनके पूजन में अनुराग, (४) स्मरण में अनुराग, (५) दासता में अनुराग, (६) मित्रता में अनुराग, (७) पत्नी भाव से उन्हें पति मानते हुए कान्त अनुराग, (८) पितृभाव से वात्सल्यानुराग, (९) आत्म निवेदनानुराग, (१०) तन्मयात्मक अनुराग और (११) परम विरहरूपी अनुराग अथवा परम विरहासक्ति।

भक्त को इन ग्यारह प्रकार के अनुरागों से अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है। वही शक्ति उसे भगवान् से मिलाने में सहायक होती है। इस प्रकार भक्ति की शक्ति से भगवान् का मिलन होना ही भक्तियोग है। योग का अर्थ ही मिलन है। जहाँ अनुराग है वहाँ मिलन भी होना ही चाहिए और मिलन है तो वह योग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वह मिलन ही तो भक्ति की चरम सीमा है जो योग के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

परन्तु, भक्ति अपने उक्त ग्यारह रूपों तक ही सीमित नहीं है। उसके और भी अनेकानेक रूप हैं, परन्तु लक्ष्य अनेक नहीं हैं, वह केवल एक ही है—प्रभु से मिलन। ईश्वर प्राप्ति के न जानें कितने मार्ग होंगे, परन्तु उन्हें जिस मञ्जिल पर पहुँचना है, वह भक्त को अपने में तादात्म्य कर लेने वाली है। उससे आगे कुछ है ही नहीं, इस वस्तु स्थिति का ज्ञान भक्त के अतिरिक्त किसी और को होता भी नहीं है।

भक्ति के अन्य भेदों में अपरा, परा, रागात्मिका, विरागात्मिका सकाम्या, निष्काम्या, व्यभिचारिणी, अव्यभिचारिणी, गौणी, मुख्या, तामसी, राजसी और सात्विकी आदि बहुत से भेद हैं। इनमें से बहुत से मुख्याभक्ति के अन्तर्गत आते हैं तथा उसके परा आदि रूप भी अनन्या भक्ति कहे जाते हैं।

जब भक्त भगवान् के प्रति आकर्षित होकर भक्ति आरम्भ करता है, उसकी वह अवस्था 'अपरा' भक्ति कहलाती है। सकाम्या भक्ति में भगवान् के प्रति आकर्षण होते हुए भी चित्त में कामना भरी रहती है। व्यभिचारिणी भक्ति वह है जो साधक को पुत्र, पत्नी,सम्पत्ति आदि के मोह में फँसाये रखना चाहती है। तामसी भक्ति तमोगुण-प्रधान होती है, इसका साधन मारण, उच्चाटन आदि के अभिप्राय से किया जाता है। राजसी भक्ति में धन, सम्पत्ति, यश एवं पद की इच्छा से ईश्वर-भक्ति की प्रेरणा होती है। परन्तु सात्विकी भक्ति में वासना से विरक्ति होने और भगवान् में चित्त योजित करने का प्रयत्न होता है। इसकी परिपक्वावस्था होने पर भक्त अपने भगवान् की कृपा को प्राप्त होकर कृतकृत्य बन जाता है।

पराभक्ति में निर्गुण ब्रह्म की उपासना निहित होती है, इसमें सत्व, रज और तम तीनों गुणों का अभाव रहता है। इसीलिए भक्त के मन में न तो कोई सांसारिक कामना रहती है और न कैवल्य अर्थात् मोक्ष की ही इच्छा होती है। इस प्रकार आशा - रहित होना ही इस भक्ति का एक लक्षण है। श्रीमद् भागवत ने कहा है—

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुः निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवत् ।।

अर्थात्—निरपेक्षता ही सबसे अधिक मुक्ति कही जाती है। इसलिए भक्ति करने के लिए सब प्रकार से अपेक्षा-रहित (आशा-रहित) होना चाहिए।

भक्ति का प्रमुख उद्देश्य है आत्म-शोधन और उसके द्वारा ईश्वर की प्राप्ति भगवान् के स्मरण, पूजन, नाम-जप, कीर्तन, कर्मकाण्ड आदि सभी मार्ग आत्म-शोधन का ही उपाय करते हैं परन्तु, उन सबसे उतनी उपलब्धि नहीं हो सकती, जितनी कि त्याग से हो सकती है। क्योंकि त्याग में ही सर्वलाभ सम्भव है।

पराभक्ति के समान ही विरागात्मिका भक्ति है। इसमें भी भक्त को भगवान् की भक्ति में ही तन्मयता रहती है। जिस भक्ति में कोई कामना न रहे, वह निष्काम्या तथा जिसमें चित्तवृत्ति भगवान् के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र न जाय वह अव्यभिचारिणी है। गीता में 'अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः' कहकर भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि जो मेरे में ही अनन्य चित्त रहकर सदा मेरा ही स्मरण करता है,उसकी भक्ति अव्यभिचारिणी है।

इस प्रकार भक्ति के स्वरूप विषयक विभिन्न मतों के होते हुए भी उन सभी का सार यही है कि अपने आचरण को शुद्ध रखते हुए राग-द्वेषादि भावों से उन्मुक्त रहने का प्रयत्न करे। मन की श्रेष्ठ गति ही भक्ति को स्थिर रख सकती है। श्रीमद्भागवत् में कहा गया है—

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्रच नानु चिन्तया।
चित्तस्य तत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभियोगमार्गैः॥

अर्थात्—भगवान् की कथा श्रवण से मनुष्य के हृदय में भक्ति-भाव उत्पन्न होता है। भक्ति हो जाने पर देखे और सुने हुए इन्द्रिय-जन्य सुखों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्म-साधन के उद्योग में तत्पर होकर ऋजु योग द्वारा प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।

इस प्रकार भक्ति के लक्षणों पर विचार करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में आत्म कल्याणार्थ यथा शक्ति मन के निरोध द्वारा भगवद्-भक्ति को स्थिर करने का समर्थन किया गया है।

त्याग से ही प्रभु-प्राप्ति की सम्पुष्टि

प्रभू-प्राप्ति त्याग से ही हो सकती है। जो मनुष्य नहीं कर सकता, उसे सब प्रकार के विषय-भोग अपनी ओर आकर्षित किये रहते हैं और वह त्याग-रहित व्यक्ति विषयों के जाल में ऐसा जकड़ जाता है कि उनसे छूट ही नहीं पाता। वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ भ्रमता रहता है।

त्यागी पुरुष चाहे देवता हो या दैत्य, ऋषि हो अथवा साधारण मनुष्य, समान रूप से भगवान् की कृपा का पात्र होता है, क्योंकि भगवान् के लिए तो देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि में कोई भेद नहीं है, यदि भेद है तो भक्त-अभक्त मात्र का। वामनावतार में उन्होंने जहाँ देवराज इन्द्र का पक्ष लिया, वहाँ दैत्यराज बलि पर भी परम कृपा की। उसके विषय में भगवान् ने नारदजी से स्वयं ही कहा—

ब्रह्मन्यमनुगृह्णामितद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः पतब्धो लोकं मां चावमन्यते।।

अर्थात्—हे ब्रह्मन्! मैं जिस पर कृपा करता हूँ, उसके धन को सब से पहिले नष्ट कर देता हूँ। क्योंकि धन के मद में मत्त हुआ मनुष्य मेरे लोक को प्राप्त नहीं कर सकता और वह मेरे भक्तों की अवज्ञा भी करने लगता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सभी प्रकार के उपासकों के लिए उन्हीं के मार्गानुसार भक्ति की परिपक्वता के उद्देश्य से जो कुछ कहा गया है, वह मनन योग्य है। ग्रन्थकार ने सगुण और निर्गुण में कोई भेद न मानते हुए, उन विविध रूपों की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है। उसने विद्वानों की मान्यता का आदर करते हुए उनके मतानुसार ही स्पष्ट कहा है कि 'सगुण का उपासक भी अन्त में निर्गुण को ही प्राप्त होता है।'

ब्रह्मोपनिषत् के अनुसार शरीर में आत्मा के चार विशेष स्थान माने गए हैं—(१) नाभि, (२) हृदय, (३) कण्ठ, और (४) ब्रह्मरन्ध्र। इनमें चार चरण वाला ब्रह्म प्रकाशित होता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ऐसी चार अवस्थाएँ आत्मा की हैं। इनमें से जाग्रत् में ब्रह्म रूप में, स्वप्न में विष्णु रूप में, सुषुप्ति में रुद्र रूप में और तुरीयावस्था में अक्षर (प्रमात्मा) रूपमें प्रकाशमान होता है। यह आत्मा स्वयं मन, इन्द्रिय और हाथ-पाँव से रहित तथा प्रकाशमान है।

इस प्रकार का प्रतिपादन (पृष्ठ १३५) आत्मा और परमात्मा का ऐक्य सिद्ध करता है। पैंगल उपनिषत् के अनुसार 'हृदय को निर्मल करके और अनामय ब्रह्म का चिन्तन करके यह जान लेना चाहिए कि मैं ही सर्वरूप ब्रह्म हूँ और मैं ही परम सुख रूप हूँ।' परन्तु ऐसा ज्ञान भी अभक्त हृदय को तो नहीं हो सकता, वह तो तभी सम्भव है, जब हृदय में भक्तिभाव का पूर्णरूप के उदय होता है।

भक्ति की चार अवस्थाएँ

आचार्यों ने भक्ति की चार अवस्थाएँ प्रमुख रूप से स्वीकार की है—(१) कोमल भाव, (२) तीव्र भाव, (३) ज्वलन्त प्रेम, और (४) उत्कृष्ट प्रेम। इनमें कोमल भाव की विद्यमानता भक्ति की प्रारम्भ अवस्था में रहती है। तीव्र भाव की प्राप्ति भक्ति की द्वितीय अवस्था में हो पाती है। ज्वलन्त प्रेम तब होता है, जब भक्त को भगवान के स्मरण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सूझता। जबकि उत्कृष्ट अनुरक्ति भक्ति की पूर्ण अवस्था में होती है। उस समय भक्त को यह ज्ञान ही नहीं रहता कि भगवान के अतिरिक्त अन्य वस्तु है भी या नहीं ? उस अवस्था में उसका मन नितान्त निर्विकार भाव को प्राप्त होकर बाह्य विषयों से अनभिज्ञ हो जाता है।

इस प्रकार भक्त को जब उत्कृष्ट अनुरक्ति हो जाती है, तभी वह अनन्य भाव में तन्मय होता है और तभी उसे भगवान के तादात्म्य भाव की प्राप्ति होती है। उस समय उसमें 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की भावना जाग्रत हो जाती है और वह प्राणी मात्र को अपने ही रूप में देखने लगता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता मथुरा के उत्कृष्ट विद्वान् कविराज बाऊदयालजी गुप्त ने उक्त सभी विषयों को विस्तार पूर्वक समझाकर भक्त-जनों का अत्यन्त हित साधन किया है। ऐसा अपूर्व ग्रन्थ लिखने के उप-लक्ष्य में हम उनके प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए आशा व्यक्त करते हैं कि यह ग्रन्थ भक्तों, विद्वानों, साधु-सन्तों तथा साधारण मनुष्यों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा और अपनी श्रेय-कामना वाले मनुष्य इसके द्वारा श्रेष्ठ कल्याण के सम्पादन में समर्थ होंगे।

—प्रकाशक

विषय-सूची

□

भक्ति का स्वरूप–

१.	ईश्वर के प्रति अनुराग	१७
२.	विद्वानों की मान्यता	१८
३.	गज-ग्राह का उपाख्यान	२०
४.	हृदयस्थ तारों का योग	२२
५.	भक्ति की आरम्भिक अवस्था	२३
६.	ध्यान की तन्मयता	२४
७.	आन्तरिक शक्तियों का जागरण	२५
८.	संकीर्तन और भक्तिभाव	२७
९.	सच्ची भक्ति में स्वार्थ का अभाव	२८
१०.	आसक्ति के त्याग की अपेक्षा	३०
११.	विषय-चिन्तन का प्रभाव	३१
१२.	भक्ति का मूल सदाचार	३२
१३.	मन को शुभ कर्मों में व्यस्त रखना अपेक्षित	३४
१४.	ज्ञान और भक्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध	३५
१५.	भक्ति के उदय में श्रद्धा की अपेक्षा	३७
१६.	श्रद्धा, भक्ति और त्रिवेणी	३८
१७.	विपत्ति का वरदान	३८
१८.	भक्ति के अनेक प्रकार	३९
१९.	श्रवण-भक्ति	४०
२०.	कीर्तन-भक्ति	४१
२१.	स्मरण भक्ति	४३
२२	चरण-सेवन-भक्ति	४४

२३.	पूजन-भक्ति	४६
२४.	एक परमात्मा के अनेक रूप	४७
२५.	वन्दन-भक्ति	४६
२६.	सूर्य नमस्कार की उपयोगी मुद्राएँ	४६
२७.	दास्य-भक्ति	५२
२८.	संख्य-शक्ति	५३
२६.	आत्म निवेदन भक्ति	५४
३०.	भक्ति के ग्यारह स्वरूप	५६
३१.	परम विरहासक्ति	५८
३२.	भक्ति के अन्य भेद	५६
३३.	अपरा भक्ति	५६
३४.	सकाम्या भक्ति	६०
३५.	व्यभिचारिणी भक्ति	६१
३६.	तामसी भक्ति	६१
३७.	राजसी भक्ति	६२
३८.	सात्विकी भक्ति	६२
६६.	पराभक्ति	६३
४०.	भक्ति का उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति	६४
४१.	चूडाला का उपाख्यान	६५
४२.	श्रेय प्राप्ति में चित्त संयम की अपेक्षा	६७
४३.	विरागात्मिका भक्ति	६८
४४.	निष्काम्या भक्ति	६८
४५.	अव्यभिचारिणी भक्ति	६६
४६.	मन का बाँधना आवश्यक	७०
४७.	राजा लवण का उपाख्यान	७२
४८.	मन को स्थिर रखने के उपाय	७६
४६.	मानस नवधा भक्ति	८०

भक्ति का ध्येय प्रभु-प्राप्ति

१. पंचतत्व और उनसे सम्बन्धित देवता ८३
२. पंचभूतों का पंचीकरण ८३
३. पंचीकृत भूतों से स्थूल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति ८४
४. शरीर में भूत विशेष का न्यूनाधिक्य ८५
५. पंचदेव पूजन ८५
६. उपासना भेद ८७
७. विभिन्न देवताओं के पूजन और उनके लाभ ८८
८. गणपति की भक्ति और पूजा ८९
९. त्रिदेव और उनकी अभिन्नता ९०
१०. ब्रह्मा या चतुरानन ९१
११. व्रज में ब्रह्मा को मोह ९४
१२. ब्रह्मा के पूजन का निषेध-एक भ्रांति ९७
१३. भगवान् विष्णु और वैष्णव धर्म १०१
१४. भगवान् विष्णु के तीन पद १०२
१५. वामनावतार की कथा १०३
१६. तीन गुण और तीन देवता १०६
१७ नारायणात्मक सर्ग १०६
१८. नृसिंह महिमा १०८
१९. यज्ञस्तोम निरूपण १०९
२०. सन्त कवियों की वाणी ११०
२१. जैन और बौद्ध मत में विष्णु का प्रति-पादन १११
२२. विष्णु के विभिन्न रूप और पराक्रम ११३
२३. नारायण की भक्ति और पूजा ११४
२४. श्री रामावतार ११५
२५. श्री कृष्णावतार ११७
२६. भक्त कवियों की कृष्णोपासना ११७
२७. भगवान् शंकर ११९

२८. सर्वदेवात्मक ओर सार्वभौमिक रुद्रोपासना १२०
२९. शिवार्चन मन्त्र १२४
३०. शिव-तत्व विवेचन १२५
३१. शिव की भक्ति और पूजा १२८
३२. आदित्य की भक्ति और पूजा १३०
३३. शक्ति की भक्ति और पूजा १३१

ब्रह्म निरूपण

१. आत्मा के चार स्थान १३४
२. वृहद्रथ-शाकामन्यु संवाद १३६
३. निज स्वरूप में स्थिति १३७
४. एक ही ब्रह्म के दो रूप १४०
५. प्रतीको पासना १४३
६. देवोपासना के दो भेद १४४
७. सगुण से निर्गुण की प्राप्ति १४६
८. प्रतिमाओं में भगवान् का निवास १४८
९. भक्त और भगवान् में परस्पर भक्ति १४९
१०. भक्ति की अवस्थाएँ १५०
११. उत्कृष्ट प्रेम में विभिन्न अनुभूतियाँ १५२
१२. शरीर में पुलकन १५३
१३. शरीर में कम्पन १५३
१४. नेत्रों में अश्रुपात १५४
१५. हास्य १५४
१६. रुदन १५५
१७. स्वर-भङ्ग १५५
१८. स्वेद का स्राव १५६
१९. मूर्च्छा १५६
२०. मोक्ष के चार प्रकार १५८

२१. सालोक्य मुक्ति का स्वरूप १५८
२२. राजा ययाति का उपाख्यान १५६
२३. सामीप्य मुक्ति १६१
२४. सारूप्य मुक्ति १६२
२५. सामुज्य मुक्ति १६५
२६. उपनिसद् और परा विद्या १६६
२७. सत्पुरुषों का समागम ही स्वर्ग १६८
२८. आत्मा परमात्मा का ऐक्य १७०
२६. संसार-सागर से मुक्त होने का उपाय १७१
३०. प्रणव रूप ब्रह्म १७२
३१. आत्मज्ञान से सायुज्य मोक्ष १७४
३२. वाणी से अवरणीय ब्रह्म १७५
३३. भक्ति में ध्यान का महत्व १७७
३४. ऋषि देवर्षि वार्ता १७७
३५. नचिकेता और यम का उपाख्यान १७६
३६. यम द्वारा आत्म ज्ञान विषयक उपदेश १८२
३७. ज्ञान कर्म, भक्ति की पारस्परिक अपेक्षा १८३
३८. श्रद्धा-विश्वास की महिमा १८६

भक्ति में ध्यान की तन्मयता

१. ध्यान एवं शारीरिक, मानसिक पवित्रता १८६
२. आहार शुद्धि-विवेक १९३
३. विमोक या इन्द्रिय-संयम १९४
४. अभ्यास से अभूतपूर्व सफलता १९५
५. कर्मानुष्ठान से श्रेय-प्राप्ति १९६
६. शरीर की बाह्य शुद्धि की अपेक्षा १९७
७. आन्तरिक शुद्धि की आवश्यकता १९८

८. अहिंसा के बिना भक्ति की व्यर्थता २००
९. अनवसाद का महत्व २०१
१०. अनुद्धर्ष की निरर्थकता २०३
११. श्रेष्ठ मनोभूमि और ईश्वर के प्रति विश्वास २०५
१२. ईश्वर प्राप्ति में सर्वशुद्धि का महत्व २०६
१३. लोक का दिव्य सङ्गीत संकीर्तन २०७
१४. संकीर्तन से पापों का नाश २०९
१५. गीता की उत्ताल तरङ्गों में सङ्गीत की विद्यमानता २१०
१६. सङ्गीत से आत्म विस्मृति की अवस्था २११
१७. श्वास-प्रश्वास की गणना २१२
१८. वेदों का सङ्गीतात्मकता २१३
१९. नाद का उत्पादक ओंकार २१४
२०. कीर्तन के अद्भुत परिणाम २१६
२१. रागों से वृष्टि और दीपों का प्रज्वलन २१७
२२. कीर्तन एक उत्कृष्ट व्यायाम २१९
२३. श्वसन क्रिया पर नियन्त्रण की वैज्ञानिक प्रक्रिया २२०
२४. रस-ग्रन्थियों में शक्ति-संचार की उत्कृष्ट प्रक्रिया भगवन्नाम संकीर्तन २२१
२५. स्नाविक संस्थान को दृढ बनाने की सरल प्रक्रिया २२२
२६. प्राणों को सबल बनाने वाला सहज व्यायाम २२३
२७. ध्यान की दृढ़ता का सरल साधन-संकीर्तन २२४
२८. कीर्तन की तन्मयता में बाह्य चेष्टाओं की निवृत्ति २२५

भक्ति और समाधि

१. समाधि में चित्त की तदाकारता २२७
२. समापत्ति के भेद २२८

३. ऋतम्भरा प्रज्ञा से रहस्यों का साक्षात्कार २२६
४. विवेक ज्ञान से व्युत्थान संस्कार का नाश २२६
५. विषयों के ज्ञान का त्याग २३०
६. प्रारब्ध के फलरूप ज्ञान और भोग २३२
७. धर्ममेघ समाधि में अनन्त ज्ञान की उपलब्धि २३३
८. विश्व का आत्मवत् दर्शन २३५
९. चित्त की एकाग्रता से दिव्य अनुभूति २३६
१०. स्थितप्रज्ञ को प्रदात्म्य भाव की प्राप्ति २३८
११. शुभ कर्म और सत्संग की अमोघता २४०
१२. कुसंगति से इहलोक-परलोक का विनाश २४२
१३. दिखावटी शुद्धाचार का आडम्बर और उसका निषेध २४४
१४. भक्ति का प्रमुख साधन सर्व समर्पण २४५
१५. कर्माधिकारी भक्त और फलाधिकारी भगवान् २४६
१६. भक्त के प्रति भगवान् का उत्तर दायित्व २४८
१७. सभी भूतों के अन्तरात्मा भगवान् २४९
१८. भगवान् की निरन्तर उपासना २५०
१९. अनन्य भाव की सिद्धि का उपाय २५२
२०. विघ्नों की उपेक्षा ही सफलता की कुंजी २५३
२१. आत्मज्ञान से भगवत्साक्षात्कार २५५

★

भक्तियोग

भक्ति का स्वरूप

भक्ति के स्वरूप पर अनेक शंकाएं होती हैं। इस विषयपर विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत मिलते हैं। कोई कहता है कि भक्ति ईश्वर रूपी लक्ष्य तक पहुंचने का सीधा-साधा मार्ग है। कोई कहता है कि भक्ति उस विशुद्ध प्रेम का नाम है जो भक्त और भगवान् के एकाकार होने में सहायक होता है तथा कोई कहता है कि भक्ति वह प्रेमरज्जु है जो भक्त के हृदय को भगवान् के चरण-कमलों से बांधने में समर्थ होती है। परन्तु, कुछ का कथन इन सब के विपरीत है, वे कहते हैं कि भक्ति और प्रेम में बहुत बड़ा अन्तर है। प्रेम की डोर संसारी जीवों को ही परस्पर बांधती है, जबकि भक्ति भगवान् के प्रति सहज अनुरक्ति है, जिसमें भक्त सर्वथा लीन होजाता है। उस समय उसे भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता ही प्रतीत नहीं होती।

ईश्वर के प्रति अनुराग

भक्त जानता है कि उसका सर्वस्व भगवान् ही है और उसका यह ज्ञान उसे सर्वदा भगवान् में ही रमाये रखता है। उस समय उसका चित्त सांसारिक विषयों से दूर होने लगता है और वह धीरे-धीरे भगवान् की परम अनुरक्ति में निमग्न होकर स्वयं को भी भूलने लगता है। उसके उस भाव को विद्वानों ने

'पराभक्ति' नाम दिया है। उसे पराभक्ति कहिये या परानुरक्ति, है वह भक्ति की सर्वोत्कृष्ट स्थिति ही। जब भक्ति धीरे-धीरे दृढ़ होती जाती है, उसमें भगवान् के प्रति ही अनुरक्ति रहती है, तब उसका नाम पराभक्ति या परानुरक्ति ही होता है। और जो भक्तजन उसे प्राप्त कर लेते हैं, वे अपने इस जीवन में ही धन्य होजाते हैं।

'परानुरक्ति' का अर्थ है 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग।' और अनुराग एवं प्रेम में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, इसलिए विद्वज्जनों ने अनुराग या प्रेम को भक्ति के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है। परन्तु, जब वह अनुराग या प्रेम अपनी उत्कृष्ट अवस्था में पहुँच जाता है, तभी वह 'परानुरक्ति' या 'पराभक्ति' कहलाने का अधिकारी होता है। महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार 'सा परानुरक्तिः ईश्वरे' अर्थात् 'ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति होना ही पराभक्ति है।'

विद्वानों की मान्यता

अनेक विद्वानों की मान्यता है कि भक्ति प्रेम की पराकाष्ठा का नाम है। जो कुछ प्रेम में है, वह भक्ति में होना अनिवार्य है। परन्तु भक्ति में जो कुछ है, वह प्रेम की सर्वोत्कृष्ट अवस्था में ही मिल सकता है। यदि प्रेम में निश्चलता है तो वह भक्ति का स्थान ले सकता है। उस अवस्था में प्रेम में दिव्यता होती है। दार्शनिक रावर्ट जे. उस सर्वोत्कृष्ट प्रेम का स्वरूप इस प्रकार बताते हैं—

"जीवन की घुमड़ती हुई कृष्ण घटाओं के मध्य प्रेम इन्द्र धनुष के समान है। वह प्रातःकाल और सायंकाल का सितारा है। शिशु के पालने पर चमकता और मौन कब्र को प्रकाशित

करता है। प्रेम कला की जननी, कवि की प्रेरणा तथा देशभक्त और दार्शनिक का स्फुरण है। सर्व प्रथम प्रेम ने ही अमरत्व का स्वप्न देखा। वह विश्व को मधुर ध्वनि से परिपूर्ण करता है, क्योंकि संगीत उसी की वाणी है। हृदय-रूप दिव्य पुष्प की सुगन्धि भी वही है। उसके बिना मनुष्य हिंसक पशु के समान है। प्रेम के होने से धरती स्वर्ग और हम देवता हैं।"

कुछ अधिकारी पुरुषों के मत में प्रेम और भक्ति में परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। गरुड़ पुराण का कथन है—

तत्कथा श्रवणे प्रीतिः श्रवणां सफलं भवेत्।
येन सर्वात्मना विष्णोः भक्त्या भावो निवेशितः।
विश्वेश्वरक्रमाद्विप्रान्महाभागवतो हि सः॥

अर्थात्—भगवत् कथा के श्रवण में प्रीति हो तो ही सफलता मिलती है। जिसने भगवान् विष्णु को सर्वात्मा मान कर उनमें अपने सभी भावों को भक्ति सहित निवेशित कर दिया है, वही भगवान् विश्वेश्वर की कृपा प्राप्त करता हुआ महा भागवत बन जाता है।

भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है भगवान् से जुड़ जाना। नारद-भक्ति सूत्र में 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' कहते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि 'उस भक्ति का स्वरूप भगवान् के प्रति अत्यन्त प्रेम रखना है।' इस प्रकार भक्ति का प्रेम स्वरूप होना सिद्ध होता है।

प्रेम, प्रीति, भक्ति, भजन, अनुराग, अनुरक्ति, आसक्ति आदि सभी शब्द सामानार्थक हैं। भक्ति में कामना नहीं होती, क्योंकि भक्त भगवान् में ही समा जाना चाहता, वैसे ही प्रेम भी निष्काम होता है और प्रेमी भी अपने उपास्य को अपने से भिन्न नहीं देखना चाहता। यही भक्ति और प्रेम का उत्कृष्ट स्वरूप है। इसीलिए भक्ति को 'परम प्रेमरूपा' कहा है।

वासना का अभाव

प्रेम में कामना या वासना नहीं होती, छल-कपट नहीं होता और न भय ही होता है। कोई भय, कामना या छल-कपट के वशीभूत होकर प्रेम करता है तो उसमें उत्कृष्टता कहाँ रही ? विद्वज्जनों के अनुसार वह प्रेम नहीं कुप्रेम है। जो लोग उसे प्रेम कहते हैं, वे अवश्य ही भ्रान्ति में हैं या जानबूझ कर मिथ्या कहते हैं।

उसी प्रकार भक्ति में भी भय, कपट या कामना आदि का अभाव रहता है। क्योंकि भक्त तो सर्वथा निर्द्वन्द्व होजाता है। उसे भगवान् का ही भरोसा रहता है और भगवान् अपने भक्त को कभी भयभीत नहीं करते। वे तो स्वयं ही अपने भक्त के भक्त बन जाते हैं तो भय की उत्पत्ति क्यों करेंगे ? गीता में भगवान् स्वयं कहते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' अर्थात् जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, उन्हें मैं भी उसी रूप में भजता हूं।'

यदि कहा जाय कि किसी अन्य से भय हो सकता है तो वह भी सम्भव नहीं। क्योंकि भगवान् से बढ़ कर तो क्या, कोई उनके समान शक्ति सम्पन्न भी नहीं हो सकता, तब क्या यह सम्भव नहीं कि अन्य द्वारा भय उपस्थित होने पर भगवान् स्वयं ही अपने भक्त की रक्षा कर उसे निर्भय बनादें ?

गज-ग्राह का उपाख्यान

ऐसे अनेकों उपाख्यान उपलब्ध हैं, जिनसे स्पष्ट है कि भक्त को भयभीत देख कर भगवान् ने स्वयं ही उसकी रक्षा की। इस प्रसंग में गज-ग्राह की कथा का सन्दर्भ अप्रासंगिक न होगा। वामन पुराण के अनुसार काञ्चन पंकज सरोवर के जल में एक

दुष्टात्मा ग्राह रहता था, जो बड़े-बड़े गजेन्द्रों के लिए भी दुराधर्ष था। एक समय जल पीने और स्नान करने की इच्छा से एक गजराज उसी सरोवर पर पहुँचा और जैसे ही वह जल में उतरा वैसे ही उसे उस ग्राह ने पकड़ लिया। तब तो उनमें परस्पर भयंकर खींच-तान होती रही और अन्त में गजराज की एक भी न चली। वह ग्राह के भय से आकुल होकर चिंघाड़ता हुआ भगवान् का चिन्तन करने लगा। उस समय—

एकात्मा निगृहीतात्मा विशुद्धेनान्तरात्मना ।
जन्मजन्मान्तराभ्यासाद् भक्तिमान्गरुडध्वजे ॥

अर्थात्—उसने वह लौ लगाई कि वह निगृहीतात्मा गजराज भगवान् के साथ एकात्मा (अभिन्न) होगया। उसकी अन्तरात्मा विशुद्ध रूप से भगवान् का ही चिन्तन कर रही थी और जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से उसमें भगवान् गरुडध्वज की भक्ति का (पूर्ण रूप से) उदय होगया।

तब उसकी परम भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् गरुड़ पर स्थित होकर गजराज के समक्ष प्रकट होगए और उन्होंने ग्राह से त्रस्त हुए उस गजराज को शीघ्रता से जल से निकाला और ग्राह को चक्र से विदीर्ण कर दिया। तब तो गज और ग्राह दोनों ही दिव्य देह धारण करके संसार सागर से मुक्त होगए।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि गजराज तो अपनी परम-भक्ति के प्रताप से मुक्त होगया, परन्तु ग्राह ने ऐसा कौन-सा कार्य किया जिससे उसे मोक्ष की प्राप्ति हुई? इसका समाधान यह है कि ग्राह ने जन्म-जन्मान्तरों से ईश्वर-भक्त के अभ्यासी गजराज का इतना अत्यन्त संसर्ग किया कि वह आपा छोड़ कर गजराजमय होगया था। क्योंकि गजराज द्वारा किये जाने वाले ईश्वर चिन्तन से वह भी इतना अभिभूत होगया कि उसे भी दिव्य लोक की प्राप्ति होगई।

हृदयस्थ तारों का योग

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि विद्युत्-पंक्ति का स्पर्श जिस-जिस तार से होता है, उसी-उसी में उसका प्रवाह (करेंट) दौड़ने लगता है। चाहे वह तार उससे पृथक ही क्यों न हो, बस किंचित् स्पर्श मात्र होजाना चाहिए। फिर कोई कारण नहीं कि उसमें विद्युत् प्रवाह का संचार न होने लगे।

तो, भक्ति-भाव में निमग्न भक्त-हृदय के जो तार दूसरे हृदय से किसी भी रूप में जुड़ जाते हैं, वे भक्त की भावना के स्पर्श से बच नहीं सकते। उस समय उनमें पारस्परिक ऊर्जा का आदान-प्रदान होने से एक दिव्य परिणाम का प्राकट्य होता हैं और परिणाम ही बुरे से बुरे व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन में पूर्ण रूप से समर्थ है।

यदि किसी एक पात्र में समान भाग विष और अमृत का मिश्रण करें तो यह मानना पड़ेगा कि विष और अमृत दोनों के ही गुणों में परिवर्तन होजाता है। उस समय न विष-विष ही रहता है और न अमृत अमृत रहता है। विष में अमृत के गुणों का समावेश होने से उसकी मारक शक्ति घट जाती है और अमृत की जीवनी शक्ति का ह्रास होजाता है।

परन्तु, यदि उस मिश्रण में विष के स्वाभाविक गुणों को नष्ट करने वाले घटक और डाल दिये जाँय तथा अमृत के गुणों को किन्हीं विशिष्ट द्रव्यों से प्रवृद्ध कर दिया जाय तो वह विष स्वतः ही शान्त होजायगा और अमृत की प्रखर शक्ति मृतकों में भी प्राण फूँकने में समर्थ होगी। उसी प्रकार भक्त से अभक्त का संघर्ष होने पर भक्ति रूपी घटक के प्रभाव से अभक्त की दुष्टता का स्वतः शमन होने लगता है और उधर भक्ति रूपी अमृत जब अपने उपास्य की कृपा को प्राप्र कर लेता है, तब उसकी भक्ति

फलवती होजाती है, जिसके द्वारा वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को भी नवप्राण प्रदान करने में समर्थ होता है और इसो का भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप कह सकते हैं।

भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था

स्वामी विवेकानन्द के मत में ईश्वर की खोज ही भक्तियोग है। उस खोज का आरम्भ, श्रध्य और अन्त सब कुछ प्रेममय ही है। एक क्षणमात्र भी ईश्वर प्रेम में उन्मत्त रहना शाश्वत मुक्ति का देने वाला है।

भक्ति की आरिम्भक अवस्था कुछ ऐसी होती है, जिसमें चंचल मन के कारण मनुष्य अपने मार्ग से विचलित हो सकता है। क्योंकि यदि उसमें किसी प्रकार का व्यवधान पड़ता है तो विश्वास-अविश्वास की नौका उसे डगमगाने लगती है। उस पर भी यदि किसी प्रकार की वासना जाग्रत् होजाती है तो भक्ति और उसके जमने वाले संस्कार दब जाते हैं।

कुछ लोग भक्ति को किसी मत विशेष की प्रक्रिया मानते हैं और उस मत को मानने के लिए कुछ अपरिपक्व व्यक्तियों पर दबाव डालने का भी प्रयत्न करते हैं। परन्तु, भक्ति किसी मत विशेष की वस्तु नहीं और न उसकी कोई सीमा ही है इसलिए उसे किसी भी मत विशेष की परिधि तक सीमित नहीं रखा जा सकता।

परन्तु, इस तथ्य का ज्ञान उन व्यक्तियों को नहीं हो पाता जो दुराग्रहवश किसी मत-मतान्तर के चक्र में पड़े रहते हैं। वे लोग भी उस ज्ञान से अनभिज्ञ रहते है, जो किसी प्रकार के माया-मोह में फँसे हुए हैं। भक्ति किसी असंयत चित्त वाले मनुष्य के अधिकार की भी वस्तु नहीं। वह तो एक ऐसो वस्तु है, जिसका क्षेत्र असीमित और महान् से भी महान् है।

और वह डाँवाडोल अवस्था तभी तक रहती है, जब तक कि भक्ति-भाव में परिपक्वता नहीं आती। जब भक्ति अपनी तृतीय अवस्था में होती है तब भक्त के सभी संदेह नष्ट होजाते हैं। उस स्थिति में न तो मन की चंचलता रहती है और न किसी वासना का विकार ही उद्वेलित करता है।

स्वामी विवेकानन्द के विचार में—"यह आशंका केवल भक्ति की निम्नतर अवस्था में रहतो है, जिसे 'गौणी' अवस्था कहते हैं। परन्तु, जब परिपक्व हुई भक्ति 'परा' अवस्था को प्राप्त होजाती है, तब किसी प्रकार की मदान्धता या कट्टरता की आशंका नहीं रहतो। क्योंकि पराभक्ति से अभिभूत भक्त प्रेमरूपी भगवान् के इतना निकट पहुँच जाता है कि तब वह अन्यों के प्रति घृणाभाव का विस्तारक यन्त्र नहीं बन सकता।'

ध्यान की तन्मयता

श्रीमद्भागवत कार ने भक्ति-भाव सहित भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना ही कल्याणकारी बताया है। उसके अनुसार—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासाऽरुणायित तनुद्विजकुन्द पंक्ति।
ध्यायेत् स्वदेह कुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पित मना न पृथग्दिदृक्षेत्॥

—३।२८।३६

अर्थात्—ध्यान के स्थान रूप अधरों की मुसकानमयी कांति से अरुण देह में स्थित कुन्दकली के समान दन्त पंक्ति का ध्यान करना चाहिए। उस समय (भक्त) प्रेम-रस-पूर्ण भक्ति से समर्पित मन होकर ध्यान करे, अन्यत्र देखने की चेष्टा न करे।

इस प्रकार भागवत में भक्ति को परिपक्व करने की विधि बतायी गई है। परन्तु, अन्यत्र न देखने की स्थिति तब तक नहीं आ सकती जब तक भक्ति अपनी प्रथमावस्था से उठती-उठती 'परावस्था' में न पहुँच जाय और उस परावस्था में कब पहुँचा जाता है, इसका वर्णन भी भागवत ने बड़े स्पष्ट रूप से किया है। यथा—

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
—३।२८।३७

अर्थात्—ऐसी अवस्था में भक्त को अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहता, तब सुख-दुःख की बात का तो कहना ही क्या ? जैसे मदिरा से मत्त मनुष्य को अपने शरीर के वस्त्रों का ध्यान नहीं रहता चाहे वह दैवयोग से शरीर पर रहा आवे या हट जाय, वैसे ही भगवान् का भक्त सम्पूर्ण अनुसंधानों को भूल जाता है।

आन्तरिक शक्तियों का जागरण

और यह स्थिति तभी उत्पन्न होपाती है, जब भक्त पर भगवान् का अनुग्रह होता है। उस समय उसकी बाह्य शक्तियाँ सुषुप्त होने लगतीं और आन्तरिक शक्तियाँ जाग्रत् होजाती हैं। अथवा यह कहना चाहिए कि भक्त को सभी बाह्य और आन्तरिक शक्तियां एक अध्यात्म शक्ति का रूप धारण कर लेती हैं। उन विकेन्द्रित शक्तियों का केन्द्रीयकरण होजाता है। तब मन्त्रशक्ति, साधना-शक्ति और उपासना-शक्ति की त्रिपुटी उसकी अध्यात्म शक्ति को प्रबलतम बनाकर उसके चित्त को सत्वगुण

से सम्पन्न कर देती है। जब ऐसा होजाता है तब न कोई कामना शेष रहती है, न वासना का ही अंश रहता है। उसका विश्वास दृढ़ होजाता है कि जो कुछ है वह भगवान् ही हैं। उन्हीं में सच्चा सुख या परम आनन्द है। उस विश्वस्त अवस्था का वर्णन करते हुए देवर्षि नारद अपने भक्ति-सूत्र में कहते हैं— 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति' अर्थात् 'जिसे प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध होता है, अमर होता है और तृप्त होता है।'

उक्त अवस्था का कारण क्या है ? क्यों होता है वैसा ? तो यह सहज ही समझ में आजाता है कि भगवान् का मद ही ऐसा है जिसे सेवन करने वाला मत्त बन जाता है। उसे सब समय, उठते, बैठते, सोते, जाते, खाते, पीते, चलने, फिरते आदि सभी दशाओं में केवल अपने उपास्य का ही ध्यान रहता है। कृष्ण-प्रेम की दीवानी मीरा हमारे इस कथन में प्रत्यक्ष उदाहरण है। वह राजरानी होकर भी अपने स्वरूप को भूल कर कृष्ण-प्रेम में ऐसी रंग गई थी कि उसे कहीं कुछ भी दिखाई नहीं देता था और कृष्ण के गुणगान में लीन हुई गलियों और राजमार्गों में नृत्य करती फिरती थो। उसी के भाव हैं—

हे री मैं तो प्रेम दिवानो मेरा दरद न जानें कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विधि सोना होय॥
गगन-मंडल पै सेज पिया की किस विधि मिलना होय,
दरद की मारी बन-बन डोलू बैद मिला नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब वैद सँवरिया होय॥

मीरा ही क्यों, गौरांग महाप्रभु को ही लीजिए वे भगवान् के प्रेम में इतने मग्न रहते थे कि उन्हें बाह्य जगत् का भी कुछ ध्यान नहीं रहता था। उनके लिए, दिन-रात्रि समान थे। बस

सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दिखाई देते थे और वे उन्हीं के नाम-संकीर्तन में अपनी वाणी का महत्व समझते थे।

संकीर्तन और भक्तिभाव

भगवान् का नाम संकीर्तन करते-करते मनुष्य स्वयं भगवान्-मय होजाता है। परन्तु, वह संकीर्तन भक्तिभाव सहित होना चाहिए, उसमें आराध्य के प्रति प्रेम की इतनी अधिकता होनी चाहिए कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का भान ही न हो पावे। उसमें एक ऐसा दिव्यमद उत्पन्न होजाना चाहिए, जिसमें मतवाला हुआ भक्त आपे को भी भूल कर केवल भगवत्मय होजाय। देवर्षिनारद का वचन 'मत्तो भवति' भक्ति की इसी अवस्था की ओर इंगित करता है।

व्रज की गोपियाँ उसी प्रकार के प्रेम में अनुरक्त थीं। वे दिन-रात श्रीकृष्ण के ध्यान में लीन रह कर उन्हीं के नाम को रटती रहती थीं। उन्हें घर-द्वार, परिवार, पति, पुत्र आदि किसी की भी चिन्ता नहीं थी। यहाँ तक कि वे अपने स्वरूप और सामाजिक बन्धनों को भी भूल गई थीं। उन्हें तो एकमात्र अपने प्यारे श्रीकृष्ण की ही रटना लगी थी। उस समय उन्हें यह भी ज्ञान नहीं रहा था कि उनके समक्ष कोई मनुष्य खड़ा है अथवा वृक्ष? इसीलिए वन में प्रियतम से बिछुड़ी हुई विरह-सन्तप्ता व्रजगोपियाँ उनकी खोज में वन-वन भटकती हुई वृक्षों तक से उनके विषय में पूछने लगीं—

कच्चित् कुरवकाशोक नागपुन्नाग चम्पकाः।
रामानुजो मानिनी नामितो दर्पहरस्मितः॥

—भागवत १०।३०।६

अर्थात्—हे कुरवक! हे अशोक! हे नाग! हे पुन्नाग! हे चम्पक! क्या तुमने मानिनियों का मान हरने वाले तथा

मन्दहास से समन्वित बलरामजी के अनुज (श्रीकृष्ण) को कहीं देखा है ?

यही नहीं, वे यह भी भूल गई थीं कि हम व्रज की गोपियाँ हैं, वरन् वे श्रीकृष्ण-प्रेम में इतनी तन्मय होगई थीं कि स्वयं को ही श्रीकृष्ण समझने लगीं। उन्होंने शिर पर मोर मुकुट धारण करके भगवान् का-सा वेश धारण किया और उन्हीं के समान आचरण करने लगीं।

सच्ची भक्ति में स्वार्थ का अभाव

भक्ति में स्वार्थ का भाव नहीं रहता। जहाँ स्वार्थ है, वहाँ भक्ति का रहना सम्भव नहीं। जो लोग भक्ति का आडम्बर करते हुए स्वार्थ के वशी-भूत रहते हैं, उनकी भक्ति कभी सफल नहीं होतो। क्योंकि उस अवस्था में उसे अपने शारीरिक सुख की प्राप्ति के लिए नाशवान् भौतिक पदार्थों का आश्रय लेना होता है। उसकी वासना नष्ट नहीं हो पाती, जिसके कारण मनुष्य सांसारिक पदार्थों की ओर ही आकृष्ट रहता है। इसीलिए जब तक वासना या कामना का निःशेष नहीं होजाता, तब तक सच्ची भक्ति का उदय होना कभी सम्भव नहीं है। नारद भक्तिसूत्र के अनुसार—'सा न कामयमाना निरोध रूपत्वात्' अर्थात् 'भक्ति की प्रेरणा कामना के स्थित रहने तक नहीं हो पाती, क्योंकि कामनाओं का निरोध ही उसका स्वरूप है।'

इससे सिद्ध हुआ कि कामना और भक्ति में परस्पर विरोध है, क्योंकि जहाँ कामना है वहाँ शान्ति नहीं रह सकती और जब शान्ति नहीं, तब भक्ति का उदय ही कैसे होगा ? कामना का अर्थ है विषयों की इच्छा, जो कि चित्त में सदा ही एक प्रकार की अशान्ति उत्पन्न किये रहती है, मनुष्य को स्थिर नहीं रहने

देती। वह सदा डाँवाडोल स्थिति में पड़ा रह कर आत्मोत्थान के प्रयत्नों को नहीं कर पाता।

इसीलिए विद्वज्जन विषयों के त्याग को आवश्यक बताते हैं। परन्तु त्याग की वह क्रिया धीरे-धीरे व्यवहार में लायी जाती है। यदि आरम्भ में ही त्याग की पराकाष्ठा पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है तो उसमें सफलता मिलना सन्देहास्पद रहता है। क्योंकि धीरे-धीरे त्याग का और उसी गति से भक्ति का अभ्यास करना सिद्धि का कारण बन सकता है।

परन्तु, कामनाओं का त्याग कोई सरल कार्य नहीं है। बड़े-बड़े विद्वान् और धर्मात्मा पुरुष उन्हें बड़ो कठिनाई से नष्ट कर पाते हैं। राजा ययाति का चरित्र देखें तो यह ज्ञात होजायगा कि उस धर्मात्मा राजा ने कामना के वशीभूत होकर अपने ही पुत्र से उसकी युवावस्था माँगी और हजारों वर्ष विषय-भोगों में लीन रहा। फिर जब विरक्ति का भाव उत्पन्न हुआ तब उसे अपने कर्म पर बड़ा पश्चताप हुआ। फिर भी वह यह सोचता रहा कि 'मेरे हृदय की वासना का अन्त किस प्रकार हो ? इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने सर्व प्रथम इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक बताया है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञान नाशनम्॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुदध्वा संस्तभ्यातमानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुहरासदम्॥

—गीता ३।४१-४२-४३

अर्थात्—इसलिए हे अर्जुन ! तू सर्व प्रथम इन्द्रियों को वश में कर और फिर ज्ञान-विज्ञान को नष्ट करने वाले इस पापी

(काम) को नष्ट कर डाल। इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ, सबल और सूक्ष्म) कहते हैं तथा इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि है तथा जो बुद्धि से भी परे है वह आत्मा है। इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से परे जान कर, हे महाबाहो ! बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके कठिनता से जीते जाने वाले काम रूप शत्रु को मार डाल।

आसक्ति के त्याग की अपेक्षा

इस प्रकार सर्व प्रथम इन्द्रियों को वश में करके बाह्य विषयों के प्रति आसक्ति का नाश करना अत्यावश्यक है। क्योंकि आसक्ति के नष्ट होने पर वासना स्वत: ही नष्ट होजाती है और जब आसक्ति और वासना दोनों का नाश होगया, तब मन की चंचलता पर अधिकार पाना भी स्वाभाविक ही है। जब ऐसा होजाता है तभी सुदृढ़ भक्ति का उदय हो सकता है। क्योंकि विषयासक्ति, वासना, मन की चंचलता आदि भक्ति के पूर्ण विरोधी हैं।

चित्त को निर्विकार बना कर ही ईश्वर की भक्ति हो सकती है। भगवान् का पूजन सरल, शान्त भाव से होना चाहिए। उसमें भय, आशंका, प्रेमाभाव, अश्रद्धा आदि का समावेश असफलता का द्योतक है। क्योंकि उन भावों के रहते प्रेम या भक्ति की सुदृढ़ता कदापि सम्भव नहीं है। 'हरिभक्ति सुधोदय' के अनुसार भगवान् अपने श्रीमुख से स्वयं निर्देश करते हैं—

सभयं सम्भ्रमं वत्स मद्गौरवकृतं त्यज।
नैष प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव॥
अपि मे पूर्ण कामस्य नवं नवमिदं प्रियम्।
निःशंक प्रणयाद्भक्तो यन्मां पश्यति भाषते॥

सदा मुक्तोऽस्मि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः ।
अजितोऽपि जितोऽहं तैरवश्योऽपि वशीकृतः ।।
त्यक्तबन्धुजन स्नेहो मयि यः कुरुते रतिम् ।
एकस्तस्यास्मि स च मे न चान्योऽस्त्यावयोः सुहृद ।।

अर्थात्—मेरे गौरव से प्रेरित होकर या भय सहित अथवा सम्भ्रम से मेरा आदर नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह मुझे प्रिय नहीं लगता। इसलिए भक्तों को मेरा स्वाधीन प्रेमी होना चाहिए। यद्यपि मुझ पूर्णकाम को कुछ भी अपेक्षित नहीं है, तो भी जब मेरा भक्त मुझे अपने निःशंक प्रेम-भाव से देखता और भक्ति-भाव रखता है, तब मुझे उसका सम्पूर्ण व्यवहार नित्य नवीन और प्रिय प्रतीत होता है। यद्यपि में सदा मुक्त हूं फिर भी अपने भक्तों के स्नेहपाश में बँध गया हूं। किसी के द्वारा न जीता जाने वाले होने पर भी अपने भक्तों से हार गया हूं। स्वतन्त्र होते हुए भी उनके अधीन रहता हूं। जो मनुष्य अपने बन्धु-बान्धवों का स्नेह छोड़ कर मुझसे ही प्रेम करता है, उसका मैं ही हूं और वह भी मेरा ही है।

इस प्रकार भक्ति में किसी द्वन्द्व का समावेश रहना भगवान् को किसी भी अवस्था में प्रिय नहीं है। यदि वह भक्त होने की लालसा रखता है तो उसे विभिन्न विकारों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक विषयों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

विषय-चिन्तन का प्रभाव

भगवान् की उक्त वाणी में परिवारीजनों के मोह का त्याग भी निर्दिष्ट हुआ है। जब तक मोह रहेगा तब तक चित्त का विकार-रहित होना कभी सम्भव नहीं है। क्योंकि मोह ही समस्त विकारों का कारण है। क्योंकि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामत्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।

—गीता २।६२-६३-६४

अर्थात्—विषयों का चिन्तन करने वाली पुरुष की उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है, उस आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और उस कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह (मूढ़ भाव या अविवेक) होता है और समोह से स्मरण शक्ति भ्रमित होजाती है। स्मरण शक्ति के भ्रमित होने से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से सभी साधनों से पतन होता है। परन्तु, स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग-द्वेष से रहित होकर अपने वश में की हुई इन्द्रियों से विषयों का भोग करता हुआ मन की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

उक्त वर्णन में इन्द्रियों द्वारा विषयों के भोग करने का संकेत होने से यह शंका स्वाभाविक है कि कहीं तो विषयों के सर्वथा त्याग का उपदेश दिया गया है और कहीं विषयों के भोग को भी मान्यता दी गई है। परन्तु, अभिप्राय स्पष्ट है कि आश्रम धर्म की आवश्यकता होने पर संयमित भोग को अव्यवहारिक नहीं कह सकते। क्योंकि वह भोग विषयासक्ति के हेतु से नहीं वरन् कर्त्तव्य-पूर्ति के हेतु से करना होता है।

भक्ति का मूल सदाचार

भक्ति गृहस्थाश्रम में रह कर भी की जा सकती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि किसी आश्रम विशेष के साधक को ही

उसका अधिकार हो। यदि ऐसा हो तो गृहस्थ के लिए आत्मोन्नति के प्रयत्न से ही वंचित होजाना पड़े और वह विषयों में फँसा रह कर नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए ही विवश होजाय।

परन्तु, ऐसा नहीं है। प्रत्येक गृहस्थ को सदाचार पूर्वक जीवन-यापन करने का कर्त्तव्य-विधान है। क्योंकि सदाचार के बिना भक्ति का उदय होना असंभव है। स्नान, ध्यान, पूजन, अध्ययन, यज्ञ, व्रत, सत्य-भाषण, श्रेष्ठ आचरण, परोपकार, दया, दान, धर्म आदि करना गृहस्थाश्रम में आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है। यदि उन कर्मों को विधि पूर्वक नित्य नियम से आलस्य छोड़ कर किया जाय तो कामना और वासना का शमन कोई कठिन कार्य नहीं है।

सदाचारी मनुष्य, चाहे गृहस्थ को अथवा संन्यासी, दुराचार में प्रवृत्त होने से यथा सम्भव बचने का प्रयत्न करेगा। उसका चित्त उसे उन कार्यों के करने से सदा रोकता रहेगा, जिन कार्यों से अधःपतन संभव हो। उस अवस्था में उसके द्वारा किया जाने वाला भोग धर्म-सम्मत ही होगा और धर्म-सम्मत भोग भगवान् की भक्ति में बाधक बने, ऐसा मानना युक्ति संगत नहीं हो सकता।

और विषयों का चिन्तन करते रहने से आसक्ति की उत्पत्ति और वृद्धि होगी ही। जो लोग विषयों में लिप्त हैं, उन्हें एक दम विषयों का त्याग करने का उपदेश नितान्त अव्यावहारिक है। यदि कोई व्यक्ति दूसरी मंजिल पर खड़ा है और उसे वहीं से कूद जाने को कहा जाय तो बेचारा कैसे कूद सकेगा। क्योंकि कूदेगा तो चुटीला होजायगा। सम्भव है कि मर भी जाय। इसलिए ऊपर से एक दम छलांग लगा लेने की बात व्यावहारिक नहीं। उसे यही कहा जाना चाहिए कि 'भाई! तुरन्त नीचे उतर

पथिक को सदा ही अज्ञानान्धकार में भटकते रहना होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद (६।२३) के अनुसार 'यस्य देवे पराभक्ति-र्यथा देवे तथा गुरौ तस्यैते कथिता ह्यर्था:: प्रकाशन्ते महात्मनः' अर्थात् 'जिसके हृदय में ईश्वर की भक्ति के ही समान गुरु की भक्ति हो, उसी महान आत्मा वाले के हृदय में यह ज्ञान प्रकाशित होता है।' और इसोलिए यह मान्यता है कि 'गुरुर्गरीयान् मातृतः पितृतश्चेति में भातिः' अर्थात् 'गुरु का स्थान माता पिता से भी ऊँचा है।'

इस प्रकार गुरु के चरण सेवन से भगवान की भक्ति सुदृढ़ होकर भगवत्प्राप्ति में सहायक सिद्ध होती है। इसीलिए चरण-सेवन-भक्ति की श्रेष्ठ महिमा स्वीकार की गई है।

पूजन-भक्ति

यह भक्ति अपने आराध्य देव के पूजन से सिद्ध होती है। भगवद्भक्त को भक्ति-भाव से परिपूर्ण हृदय के द्वारा भगवान् की पूजा करनी चाहिए। घर में देव-मूर्ति हो तो गन्ध, अक्षत, सुगन्धित द्रव्य, पुष्प, फल. नैवेद्य, मिष्ठान्न, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, धूप, दीप, कर्पूर आदि से भगवान् का पूजन करे। पंचामृत बनावे, भोग लगावे, आरतो करे और फिर स्तुति करके दण्डवत् प्रणाम करके चरणामृत और प्रसाद ग्रहण करे।

यदि घर में देव-मूर्ति नहीं हो तो किसी देवालय में जाकर यथा-विधि पूजन करे। जहां स्वयं पूजन न कर सके तो प्रतिमा के समक्ष खड़ा होकर मानसिक पूजन कर सकते हैं। क्योंकि भगवान् तो भावना के भूखे हैं, उन्हें किसी से कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं। और फिर उन पूर्णकाम प्रभु को कोई दे भी क्या सकता है? क्योंकि 'न वै देवा अश्नन्ति, न पिवन्त्येत देवा-

शरण लेकर सद्ज्ञान प्राप्त करना उचित है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह श्रुतिवाक्य प्रयुक्त हुआ है—'उत्तिष्ठत जाग्रत् प्राप्य वरान् निबोधत' (ऋग्वेद) अर्थात् 'उठो, जागो और महान् पुरुषों से ज्ञान को प्राप्त करो।'

ज्ञान और भक्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

ज्ञान और भक्ति का भी परस्पर में एक ऐसा सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे की प्राप्ति कठिनता से होती है। उसका कारण यह है कि सन्देह के निवारण में ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि ज्ञान के बिना सन्देह दूर नहीं हो पाता और अज्ञानी व्यक्ति के चित्त में सन्देह के कारण सदा अस्थिरता बनी रहती है। अनेकों तर्क, वितर्क उत्पन्न होकर जीवन को अनिश्चयात्मक बना डालते हैं और उसका परिणाम होता है-लक्ष्य का अभाव। यदि कोई लक्ष्य ही नहीं तो मनुष्य चलेगा किस ओर ? चलने वाले कोको कुछ तो दिशा ज्ञान होना ही चाहिए।

आप किसी रिक्शे या तांगे में बैठकर उसके चालक को चलने का निर्देश दीजिए। यदि आपने उसे गन्तव्य स्थान नहीं बतलाया है तो वह चलने से पूर्व ही आप से प्रश्न करेगा—'किधर चलूँ श्रीमान !' यदि आपको अपने लक्ष्य का पता है तो आप उसे बतादेंगे, अन्यथा आपके पास उसका कोई उत्तर नहीं हो सकता।'

तात्पर्य यह है कि ज्ञान की सहायता के बिना भक्ति का उदय होना कोई सरल कार्य नहीं है। आप कहेंगे कि अनेक अपढ़ या निरक्षर व्यक्तियों को भी भक्ति करते हुए देखा गया है, तो उसका समाधान यह है कि ज्ञान साक्षर व्यक्तियों को ही उपलब्ध होता हो, यह आवश्यक नहीं। साक्षरता और ज्ञान

दोनों पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति तो आन्तरिक बुद्धि से होती है। हाँ, यह सम्भव है कि साक्षर व्यक्ति को ज्ञान की उपलब्धि शीघ्र और सहज रूप से हो जाय।

जब आन्तरिक ज्ञान उत्पन्न होकर ईश्वर के सर्वशक्तिमान्, सर्वनियता, रचयिता और जगत् का आधार होना निश्चित करा देता है, तभी ईश्वर के प्रति भक्ति का उदय हो सकता है और वही भक्ति अपने अनुपम रस में भक्त को सराबोर कर सकती है। सच्ची और सुदृढ़ भक्ति के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है और ज्ञान से ही भक्त के हृदय में दिव्य आभा का प्राकट्य होता है। इसलिए भक्ति के सहायक ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न भी आत्मोत्थान के लिए एक आवश्यक कार्य है। 'बिना ज्ञान निहचै कितै, कितै भक्ति विश्वास ?' यह पंक्ति भी ज्ञान की महत्ता को व्यक्त करती हुई हमारे कथन का अनुमोदन कर रहा है।

नारदजी का कथन भी इसके प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं—'तस्या ज्ञानमेव साधन मित्येके' और 'अन्योन्याश्रयत्व-मित्यन्ये' (भक्तिसूत्र) अर्थात् 'कुछ विद्वान् भक्ति का साधन ज्ञान को ही बताते हैं। क्योंकि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक दूसरे के आश्रित हैं।'

इस प्रकार ज्ञान और भक्ति के साहचर्य की सिद्धि होने से ज्ञान भी भक्ति का एक आवश्यक अंग प्रमाणित होता है। परन्तु कुछ व्यक्ति ज्ञान का अर्थ शुद्धाचार लगाते हैं, वह ठीक नहीं है। ज्ञान का अर्थ ईश्वर के स्वरूप और सामर्थ्य के ज्ञान से है। क्योंकि जब तक परमात्मा तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसके विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती। शुद्धाचार का अपना पृथक् महत्व है, उसका भी जितना

पालन किया जा सके, उतना ही अधिक शारीरिक और मानसिक उत्थान का कारण बन सकता है।

भक्ति के उदय में श्रद्धा की अपेक्षा

एक मान्यता यह भी है कि श्रद्धा के बिना भक्ति नहीं होती। श्रद्धास्पद व्यक्ति के प्रति जो हार्दिक आदर भाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम श्रद्धा है। और भगवान् भक्त के लिए श्रद्धास्पद तो हैं ही, इसलिए उनके प्रति श्रद्धा रहना स्वाभाविक ही है। परन्तु, यह आवश्यक नहीं कि श्रद्धा के बिना भक्ति का उदय ही न हो सके, वरन् यह कहना उचित होगा कि भक्ति का उदय होने पर श्रद्धा की उत्पत्ति होना अनिवार्य है। क्योंकि भक्ति को सुदृढ़ करने में श्रद्धा का सहयोग भी आवश्यक होता है।

कुछ विचारकों के मत में प्रेम और श्रद्धा का मिश्रित स्वरूप ही भक्ति है। क्योंकि प्रेमास्पद व्यक्ति यदि अपने से विशिष्ट अथवा महान् है तो उसके लिए श्रद्धा का भाव उदय होना स्वाभाविक है और जब प्रेम के साथ श्रद्धा का समावेश होगया तो समझ लीजिए कि उस प्रेम में स्थिरता आजायगी, जिसे श्रेष्ठ भक्ति की संज्ञा दी जा सकती है।

श्रद्धा के बिना मोक्ष की प्राप्ति कठिन है, इसलिए भी भक्ति के साथ श्रद्धा की अपेक्षा की जाती है। प्रेम किसी अपने समान व्यक्ति से भी किया जा सकता है, परन्तु भक्ति और श्रद्धा तो अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति ही होती है। गीता (३।३१) में भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

अर्थात्—जो भी मनुष्य दोष-बुद्धि छोड़ कर और श्रद्धा से युक्त होकर मेरे इस मत के अनुसार स्थित रहते हैं, वे सभी कर्मों से छूट जाते हैं। अर्थात् वे कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर आवागमन के चक्र में नहीं पड़ते।

श्रद्धा, भक्ति और प्रेम की त्रिवेणी

श्रद्धा से मनुष्य में नम्रता का आविर्भाव होता है, प्रेम से पृथक्ता का भाव नष्ट होजाता है और भक्ति से हृदय में ऐसा आनन्द उत्पन्न होजाता है कि मनुष्य सदा उसी में निमग्न रहना चाहता है। और जहाँ श्रद्धा, प्रेम और भक्ति तीनों का संगम हुआ कि हृदय में एक दिव्य अनुभूति का आविर्भाव होजाता है। उसके कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार आदि सभी का लोप होकर एक प्रकार की शाश्वत शान्ति, दिव्य सुख और परम आनन्द की प्राप्ति होजाती है। उस परम आनन्द का नाम ही मोक्ष है। वही परमधाम या परमपद है। उसकी प्राप्ति ही अव्यक्तभाव की प्राप्ति है। गीता (८।१३) के अनुसार—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात्—जो पुरुष 'ओ३म्' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तथा मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर त्याग कर (इस लोक से) गमन करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

विपत्ति का वरदान

अनेक भक्त न तो परमगति चाहते हैं, न वैकुण्ठ या स्वर्ग की ही कामना करते हैं। वे तो अपने आराध्य के चरणों का

सान्निध्य मात्र चाहते है और उसकी प्राप्ति में चाहे कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, प्रसन्नता पूर्वक उस कष्ट को झेलने में ही अपने को धन्य मानते हैं। पाण्डवों की माता कुन्ती तो भगवान् के दर्शन की कामना से विपत्ति का ही वरदान माँगती हैं। भागवत (१।८।२५) के अनुसार—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भव दर्शनम्॥

अर्थात्—हे जगद्गुरो! (हे कृष्ण!) मुझे तो ऐसा वर दीजिये कि सदा ही विपत्ति आती रहे, जिससे कि मुझे बार-बार आपके दर्शन होते रहें।

कैसे श्रेष्ठ उद्गार हैं? जब-जब विपत्ति आयेगी, तब-तब ही उसे दूर करने के लिए भगवान् को आना पड़ेगा, इसलिए सदैव विपत्ति की प्राप्ति होती रहे, ऐसा ही वर क्यों न माँग लिया जाय? क्या कहते श्रीकृष्ण, अपनी बुआ की छल-रहित उक्ति पर मुग्ध होगए और शीघ्र दर्शन देने का आश्वासन देकर सन्तोष प्रदान किया।

तो, भक्त के लिए विपत्ति की चिन्ता नहीं होती। क्योंकि वह तो सदा अपने भगवान् के भरोसे रहता हुआ यह विश्वास रखता है मुझे कभी कोई विपत्ति कष्ट नहीं पहुँचा सकती। वरन् उस विपत्ति का प्रतीकार करने के लिए जब भगवान् स्वयं पधारेंगे तब जिस आनन्द की प्राप्ति होगी, उसकी कल्पना शब्दों में भी नहीं की जा सकती।

भक्ति के अनेक प्रकार

भक्ति के अनेक प्रकार माने गए हैं। किसी के मत में छः, तो किसी के मत में आठ। शास्त्रों ने नवधा भक्ति का वर्णन करते हुए उसके नौ अंग स्वीकार किये हैं। यथा—

श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पाद-सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्म-निवेदनम् ।।

अर्थात्—'श्रवण, कीर्तन, विष्णु-स्मरण, चरण-सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य-भाव, सख्य-भाव और आत्म-निवेदन यह नौ अंग प्रसिद्ध हैं ।

कुछ विचारक इन नौ अंगों को भक्ति के पृथक्-पृथक् प्रकार मानते हैं । उनके अनुसार प्रत्येक अंग स्वयं में एक पूर्ण भक्ति है । समर्थ गुरु रामदास जैसे साधक सन्तों ने उन सभी अंगों की पृथक् महत्ता वर्णन की है । उन्हें पृथक् रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है—

श्रवण-भक्ति

भगवान् के विभिन्न रूपों और चरित्रों का श्रवण करना ही श्रवण-भक्ति है । परमात्मा को अनेक शास्त्र निर्गुण, निराकार और निरुपमेय मानते हैं । परन्तु, भगवान स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

अर्थात्—हे अर्जुन ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूं ।

इससे सिद्ध होता है कि भगवान् का सगुण रूप भी है । वे अपने भक्तों और सन्तजनों की विपत्ति दूर करने के लिए युग-युग में अवतार धारण करते हैं । तथा निरुपमेय तो वे अपने निर्गुण रूप में भी हैं और सगुण रूप में भी । क्योंकि ऐसा कोई भी नहीं है, जिसकी उपमा उनके किसी भी रूप के प्रति दी जा सके । अर्थात् कोई भी उनकी समानता नहीं कर सकता, इसलिए भगवान् निरुपमेय ही हैं ।

भगवान् द्वारा युग-युग में धारण किये गए अवतारों के चरित्रों का श्रवण करने से हृदय में श्रद्धा और भक्ति का आविर्भाव स्वतः होने लगता है। उससे कर्म और ज्ञान का भी बोध होता है। कठोपनिषद् (१।२।६) के अनुसार 'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ' अर्थात् 'हे श्रेष्ठ ! यह आत्म बुद्धि तर्क से नहीं, दूसरे के द्वारा कही जाने पर ही ठीक प्रकार से प्राप्त होती है।'

शास्त्रादि के श्रवण से ही ज्ञान और भक्ति का सम्मिलित लाभ मिल सकता है। साधक भक्त को व्रत, तीर्थ, तप, साधन, पुरश्चरण, प्रायश्चित्त आदि के विषय में भी सुनना चाहिए। ब्रतोपवास में किस प्रकार का आहार ग्रहण करें और दिनचर्या कैसी रखें तथा किस तीर्थ का क्या माहात्म्य है, पूजन, भजन, ध्यान आदि का क्या विधान है, इत्यादि की जानकारी भी शास्त्रों और इतिहासों के सुनने से हो सकती है।

भगवान् के चरित्र-श्रवण के साथ ही उनके भक्तों के चरित्र भी सुनने चाहिए। जप, तप, योग आदि के विषय में प्राप्त होने वाले ज्ञान से भी मानसिक उत्थान होता और श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति होतो है। योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से प्रथम दो अर्थात् यम-नियम तो शरीरशोधनार्थ पालन किये जाते हैं। यह योगियों के लिये ही नहीं, गृहस्थों के लिए भी आवश्यक हैं। इसलिए उनका श्रवण भी कुछ कम आवश्यक नहीं है।

कीर्तन-भक्ति

भगवान् के गुणों का कीर्तन करना ही कीर्तन-भक्ति है। जो व्यक्ति किसी अन्य प्रकार की साधना न कर केवल भगवान्

के गुणानुवाद में ही अपना समय व्यतीत करते हैं, उनके हृदयों में भी सुदृढ़ भक्ति का आविर्भाव होता है और वे अपने चित्त को हरि-कीर्तन में ही पूर्ण रूप से लगा देते हैं। उसके फल स्वरूप उन्हें भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त होती है।

कीर्तन-भजन में कुछ ऐसी शक्ति होती है कि उससे ब्रह्माण्ड तक प्रभावित हो सकता है। कीर्तन से संगीत की तरंगें उद्भूत होकर वातावरण को शान्त और आनन्दित बनाने में समर्थ हैं। इसलिए कीर्तन में जो-जो सम्मिलित होते हैं, वे भो आनन्द में विभोर हो जाते हैं। यदि उसमें अधिक तन्मयता उत्पन्न होजाती है, तो सभी कीर्तनकर्त्ता स्त्री-पुरुष अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल कर बाह्यज्ञान से शून्य होजाते हैं।

कीर्तन में संगीत का उत्कृष्ट समावेश रहता है। केवल 'हरे राम हरे राम राम-राम हरे हरे' की ध्वनि ही कीर्तनकर्त्ताओं और श्रोताओं, दोनों को मुग्ध करने में समर्थ है। परन्तु उसकी लय में समानता और उसके साथ मन का पूर्ण योग होना आवश्यक है। इस प्रकार का कीर्तन मन और वाणी को पवित्र करके बड़े-बड़े पापों को नष्ट करने में सहायक है।

कीर्तन से चित्त की चंचलता, व्यग्रता और अशान्ति आदि का शमन होता है। उससे हृदय में जिस निश्चय की उत्पत्ति होती है, वह आत्मशुद्धि के निश्चय में पूर्ण रूप से सहायक है। आत्मोत्थान के लिए भगवान् के विभिन्न चरित्रों का संगीत रूप में गुणानुवाद करना शारीरिक, मानसिक और आत्मिक गुण-वृद्धि में अत्यन्त हितकर सिद्ध होता है। नारद भक्तिसूत्र (८०) के अनुसार 'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्' अर्थात् 'कीर्तन से भगवान् शीघ्र ही प्रकट होकर अपना अनुभव करा देते हैं।'

हरि-कीर्तन में व्यस्त रहने वाले घर में सभी तीर्थ, धाम, देवी-देवता और उनकी शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। उस घर पर कभी कोई विपत्ति नहीं आने पाती। क्योंकि अपने भक्तों को सदा सुखी रखने वाले भगवान् स्वयं वहाँ नित्य निवास करते हैं। इस प्रकार कीर्तन-भक्ति भी भक्त के लिए परम कल्याण-कारिणी सिद्ध होती है।

स्मरण-भक्ति

भगवान् का सदा स्मरण रखना ही स्मरण भक्ति है। इसमें भक्तजन दिन-रात्रि के सभी समयों में विभिन्न कार्यों को करते हुए भी भगवान् को कभी नहीं भूलते। खाते, पीते, बैठते, उठते, चलते और कार्य करते आदि सम्पूर्ण दिनचर्या में हरिस्मरण की भारी महिमा स्वीकार की गई है।

स्मरण में प्रभु-नाम का जप भी सम्मिलित है। जितना हो सके, प्रभु के विभिन्न नामों का जप करता रहे। क्योंकि जप भी आत्मा को परमात्मा से ऐक्य स्थापित करने में सहायक होता है। वाल्मीकि के विषय में कहा जाता है कि 'उल्टे नाम जपत जग जाना, वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना' अर्थात् 'वाल्मीकि राम के स्थान पर मरा-मरा का जप करते-करते ही ब्रह्मर्षि होगए।' क्योंकि मरा मरा के निरन्तर जप से उसने राम-राम की ध्वनि का रूप ग्रहण कर लिया और उनके हृदय के तार परमात्मा से जुड़ गए। जिसके फलस्वरूप उन्हें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगई।

सुख हो या दुःख, निद्रा हो या जाग्रति, विश्राम हो या क्रियाशीलता, सब समय भगवान् के नामों को जपते रहना चाहिए। ध्यान रहे कि धन, वैभव, सम्मान या सत्ता प्राप्त होने पर भी प्रभुनाम को कभी न विसारें। क्योंकि वैसा करने से धनादि की वृद्धि ही होती है।

संकट या विघ्न आदि की स्थिति से उबारने में भी विष्णु-नाम के स्मरण का अत्यन्त महत्व है। क्योंकि नाम-स्मरण में संकट आदि के निवारण की अद्भुत शक्ति है। रोग, विष-पान शत्रु-भय, राज-भय शाप तथा अन्यान्य विपत्तियों से मुक्ति पाने के लिए भी शुद्ध मन से श्रद्धा-भक्ति के सहित हरिनाम-स्मरण करना अत्यन्त हितकर सिद्ध होता है।

नाम-स्मरण से अभूतपूर्व ज्ञान की उत्पत्ति होती है और आत्मोत्थान की प्रेरणा होने से बाह्य विषयों से मन हट जाता है। अधर्म और पापों का नाश होकर पुण्य का उदय होने के कारण भक्ति-भाव में अत्यन्त दृढ़ता आती है और भक्ति की यह दृढ़ता ही भक्त को भगवान् की परम कृपा का अवसर प्रदान करती हैं।

भगवान् विष्णु के असंख्य नाम हैं, उनमें से जो नाम अधिक प्रिय और सुविधा जनक प्रतीत हों, उनका जप करना चाहिए। जप के प्रभाव से भक्त संसार सागर से पार हो जाता और जन्म मरण के चक्रमें फिर कभी नहीं पड़ता।

चरण-सेवन-भक्ति

भगवान् की प्रतिमा की चरण-सेवा ही इस भक्ति का स्वरूप है। प्रतिमा के स्नानोपरान्त उसके चरणोदक का पान करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। जब प्रतिमा का श्रृंगार, पूजन, आरती आदि कर्म सम्पन्न होजाय, तब उसके चरणों में साष्टांग दण्डवत और चरण-स्पर्श करते हुए प्रार्थना की जाय कि,हे प्रभो! मुझे भक्ति का वरदान दीजिए। मैं सदा आपका भक्त रहूं और आपको कभी भी न भूलूँ।'

सदगुरु भी भगवान के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। उन्हें भगवान् के समान मान कर ही उनकी चरण-सेवा करनी चाहिए। क्योंकि

सदगुरु की कृपा के बिना भगवान् की शक्ति, सामर्थ्य आदि के विषय में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसलिए यह मानना अनुचित नहीं होगा कि भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए सदगुरु की कृपा प्राप्त करना आवश्यक है।

वेदविद, ईश्वर-भक्त, मात्सर्य-रहित, योगज्ञाता, योगनिष्ठ, योगात्मा आचार्य ही परमात्मा में विशेष रूप से लीन रहवे में समर्थ होता है। इसलिए सद्गुरु भी उसी को कह सकते हैं। 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है रोकने वाला, इस प्रकार अन्धकार को रोकने में समर्थ होने से ही 'गुरु' कहा जाता है।

अद्वयतारकोपनिषद् के अनुसार—'गुरु ही परब्रह्म, परम गति और पराविद्या है। वही परायण के योग्य एवं पराकाष्ठा तथा परम धन है। उपदेष्टा होने के कारण गुरु श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है।' योगवासिष्ठ के अनुसार 'दुर्लभो सहजावस्था सद्गुरोः करुणा विना' अर्थात् 'सद् गुरु की कृपा के बिना सहज अवस्था की प्राप्ति भी दुर्लभ है।' विचारकों का कथन है—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थ वाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचकाः ॥

अर्थात्—'जैसे घट, कलश और कुम्भ एक ही वस्तु के अनेक नाम होने से एक ही वस्तु का अर्थ प्रकट करते हैं, वैसे ही मन्त्र, देवता और गुरु यह तीनों नाम एक ही तत्व के हैं।' इसका अभिप्राय हुआ कि गुरु के बिना न तो मन्त्र की प्राप्ति हो सकती है और न देवता की ही।

आत्मज्ञान की उपलब्धि, भ्रम और संशयों का उच्छेदन, पापमयी मनोभूमि का परिशोधन तथा प्रगति के लिए मार्ग-दर्शन आदि कार्य उन्हीं के लिए सुलभ होते हैं, जिन्हें अनुभवी सद्गुरु की कृपा प्राप्त होजाती है। अन्यथा अध्यात्म मार्ग के

आओ।' इसमें 'तुरन्त' शब्द से शीघ्रता भी व्यक्त होगई और नीचे उतर आने के कथन से सीढ़ियों के द्वारा क्रमशः नीचे उतरना भी समझ लिया गया।

इस सब का अभिप्राय यह है कि विषयों की निवृत्ति धीरे-धीरे ही हो सकेगी और भक्ति का आगमन भी शनैः शनैः ही होगा। इसलिए चेष्टा यह करनी चाहिए कि अधिक समय श्रेष्ठ और शुभ कार्यों में ही व्यतीत हो। यदि ऐसा होगा तो विषयों का चिन्तन करने के लिए समय ही न मिलेगा।

मन को शुभ कर्मों में व्यस्त रखना अपेक्षित

अनेक विचारक मन को श्रेष्ठ कार्यों में लगाये रखना ही आत्मोन्नति का साधन मानते हैं। 'खाली मन शैतान की दुकान' वाली लोकोक्ति भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। चिन्तन शील व्यक्तियों के लिए यह सुविधा स्वयं सिद्ध है कि उनका मन अन्य कुछ नहीं सोचता। यदि वह चिन्तन पारमार्थिक है तो कोई कारण नहीं कि मन उस चिन्तनीय विषय से पृथक् हट सके।

इसलिए मन को संयत या निश्चल बनाने के लिए उसे ईश्वर चिन्तन में लगा देना चाहिए। उससे मन में विकार का अभाव होकर भगवद्-भक्ति का उदय होने लगेगा और जब ऐसा होने लगे तभी समझ लीजिए कि भगवान् प्रसन्न हो गए। भक्त को उनकी कृपा प्राप्त होगई और वह कृतकृत्य होगया। क्योंकि उसके पश्चात् तो भक्ति में प्रखरता आनी ही है।

यदि मन में किसी प्रकार की शंका हो तो उसकी निवृत्ति के उद्देश्य से सद्ग्रन्थों का अवलोकन, अध्ययन करना चाहिए। इससे भी अपेक्षित बुद्धि की प्राप्ति न हो तो किसी सद्गुरु की

मृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छान्दोग्य ३।६।१) अर्थात् 'देवता न खाते हैं न पीते हैं, वे तो केवल अमृत को देख कर तृप्त रहते हैं।'

देवोपासना में जहां विधि-विधान और कर्मकाण्ड का महत्व माना गया है, वहां श्रद्धा और विश्वास की सुदृढ़ भावना का होना भी आवश्यक समझा जाता है। क्योंकि श्रद्धा और विश्वास से रहित, केवल कौतुक कौतुहलवश किसी मन्त्र अथवा देवता के निमित्त कुछ अधूरे साधन कर लेने मात्र से किसी लाभ की सिद्धि नहीं हो सकती। उसके लिए तो गहन श्रद्धा और पूर्ण विश्वास की अनिवार्यता होती है और उस श्रद्धा-विश्वास की भेंट ही देवताओं के लिए 'अमृत' की भेंट है। अपने पूजक के द्वारा इसी अमृत को प्राप्त करके वे प्रसन्न हो जाते हैं।

भक्त का कर्त्तव्य है कि वह देव-पूजन के साथ ही अतिथि संन्यासी सन्त, महात्मा, सद् विप्र एवं गुरुजनों को भी प्रसन्न रखने का प्रयत्न करें। क्योंकि यदि अतिथि, संन्यासी आदि किसी से रुष्ट रहते हैं तो उसे परमात्मा को प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकती। अपने माता, पिता गुरु एवं अन्यान्य वृद्धजन तथा सम्मान-योग्य व्यक्तियों का भी आदर, सत्कार, प्रणाम एव अन्य प्रकार की सेवाओं के द्वारा सम्मान करना कल्याणकारी होता है।

एक परमात्मा के अनेक रूप

इनके अतिरिक्त परिवार में जिन देवी, देवता, पितर आदि का पूजन होता है, उनके प्रति भी श्रद्धा भाव रखते हुए कुल-रीति के अनुसार पूजन करना चाहिए। सभी देवी-देवता आदि में समभाव रखे, उनमें से किसी की निन्दा न करे। क्योंकि 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' अर्थात् 'उस एक (परमात्मा) को

ही अनेक रूपों में कल्पना की गई है।' अथवा 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋक ६।३।२२।४६) अर्थात् 'उस एक ही ब्रह्म को विद्वान् पुरुष अनेक नामों से कहते हैं।' यजुर्वेद (३२।१) के अनुसार—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद्चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपः स प्रजापति. ।।

अर्थात्—यह परमात्मा ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म और वरुण है।

श्रीमद्भागवत आदि माननीय ग्रन्थों में भी विभिन्न देवी-देवताओं के नाम से एक हा ब्रह्म के बहुत से रूप स्वीकार किये गये हैं। नोचे के दो श्लोक इस विषय को पूर्ण रूप से स्पष्ट करते है। अवलोकन कीजिए—

यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः ।
या काली सैव कृष्णः स्याद् यः कृष्ण सैव कालिका ।।
देव देवी समुद्दिश्य न कुर्यादन्तरं क्वचित् ।
तत्तद्भेदो न मन्तव्यः शिव शक्तिमयं जगत् ।।

अर्थात्—जो ब्रह्मा हैं वही हरि कहे जाते हैं। जो हरि हैं वे ही महेश्वर हैं। जो काली है,वही कृष्ण हैं और जो कृष्ण हैं वही काली है। देवता और देवी के उद्देश्य में हृदय में कभी भेद-भाव उत्पन्न होने देना उचित नही है, क्योंकि देवता के जितने भी नाम रूप हैं वे सब एक ही हैं। यह सम्पूर्ण विश्व ही शिव और शक्तिमय है।

इस प्रकार सभी देवताओं और देवियों को शिव और शक्ति रूप समझ कर सब की समान भाव से पूजा करना और किसी को छोटा या बड़ा न मानना ही कल्याणकारी है। इसलिए भगवान् में श्रद्धा और विश्वास रखते हुए पूजन-भक्ति में लीन रहना चाहिए।

वन्दन-भक्ति

भगवान् के प्रति श्रद्धा-भाव रखते हुए वन्दन (नमस्कार) की भावना रखनी चाहिए। प्रतिमा के समक्ष नत मस्तक खड़े होकर आत्म-कल्याण की प्रार्थना करना सर्वथा हितकर है। प्रात काल उठने से पूर्व शय्या पर पड़े-पड़े ही भगवान् को नमस्कार कर लिया जाय तो विगत दिवस के अनेक पाप नष्ट हो जाते हैं।

देव-प्रतिमा, अतिथि, साधु-सन्त, महात्मा, गुरु, माता-पिता एवं अन्य सभी वृद्ध एवं पूजनीय व्यक्ति वन्दन के योग्य होते हैं। यदि उनके दर्शन होते ही वन्दन कर लें तो उनकी प्रसन्नता और आशीर्वाद प्राप्त होने के फल स्वरूप पूरा दिन सुख और आनन्द से व्यतीत होता है।

सूर्योदय होने तक नित्य नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त हो लेना चाहिए और तब भगवान् सूर्य को नमस्कार करना चाहिए। सूर्य नमस्कार की अनेक विधियाँ हैं, जो कि आत्मोत्थान के साथ ही रोग नष्ट करने में भी सहायक हैं। विद्वानों ने इसके लिए अनेक मुद्राएँ कल्पित की हैं। उनमें तीन मुद्राए बहुत उपयोगी हैं, इसलिए यहाँ उनका वर्णन उचित होगा—

सूर्य नमस्कार की उपयोगी मुद्राएँ

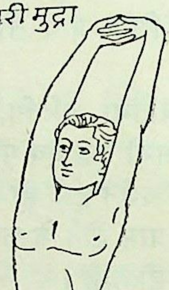
(१) सूर्य के सामने हाथ जोड़ कर खड़े होने से यह मुद्रा सिद्ध होती है। इसके लिए पहले दोनों पाँवों को परस्पर मिलाकर खड़े होना चाहिए। दोनों पाँव, कमर, मेरुदण्ड, ग्रीवा और शिर एक सीध में रहें। इसके पश्चात् सभी अंगों को भले प्रकार तान लेना उचित है।

तत्पश्चात् दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें वक्षस्थल पर इस प्रकार रखें कि अँगूठे कण्ठ कूप में लगे रहें और अँगुलियाँ ठोड़ी को स्पर्श करें। यह सूर्य नमस्कार की प्रथम मुद्रा है। इसके साथ मन ही मन 'ॐ ह्रां मित्राय नमः' का जप करते हुए भगवान् सूर्य को हृदय से नमस्कार करें।

प्रथम मुद्रा



दूसरी मुद्रा



(२) दोनो हाथों की अँगुलियों को परस्पर गूँथ लीजिए और उन्हें ऊपर की ओर उठा कर शिर को हाथों के मध्य कर लीजिए। इस प्रकार गुँथी हुई अँगुलियों सहित दोनों हाथ ऊपर

तने रहेंगे। अब उनके सहित पीछे की ओर झुकिये और पीठ को पीछे की ओर यथा सम्भव लचाइये।

फिर वक्षस्थल, ग्रीवा और हाथों में अधिक से अधिक तनाव लाइये। ध्यान रखिये कि टाँगें भी सीधी और तनी हुई स्थिति में रहें। जब ऐसी स्थिति बन जाय तब 'ॐ रवये नमः' का मानसिक जप करते हुए भगवान् सूर्य को नमस्कार कीजिए और साथ ही प्रार्थना करिये कि 'प्रभो! आप सम्पूर्ण संसार द्वारा नमस्कार के योग्य हैं। मेरे नमस्कार को स्वीकार करते हुए स्थायी भक्ति का वर प्रदान कीजिए।'

(३) अब तीसरी मुद्रा इस प्रकार कीजिए कि जिससे शरीर धीरे-धीरे आगे की ओर झुकने लगे। पहले शिर को धीरे-धीरे झुकाते हुए घुटनों से सटा दीजिए और फिर अँगुलियों की पकड़ छोड़ कर हथेलियों को दोनों पाँवों से बाहर की ओर धरती पर रख कर दृढ़ता से जमा लीजिए।

तीसरी मुद्रा



ध्यान रखिये कि उक्त स्थिति में हाथों और पाँवों के अँगूठों का एक सोध में रहना आवश्यक है। टाँगे सीधी और ठीक प्रकार तनी हुई रहनी चाहिए। शरीर का ऊर्ध्व भाग कमर के ऊपर से उलटा झुका हुआ रहेगा।

तदुपरान्त 'ॐ सूर्याय नमः' का मन ही मन जप करते हुए सूर्य भगवान् को नमस्कार करें और साथ ही भक्ति भाव के सुदृढ़ होने का निवेदन भी। यह तीसरी मुद्रा है। इस प्रकार यह तीनों ही मुद्राएँ क्रमशः की जाती हैं।

सूर्य नमस्कार की इन विधियों के अतिरिक्त अन्य देवी-देवता आदि को भी नमस्कार करना चाहिए। क्योंकि—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं।
सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति ।।

अर्थात् —जैसे आकाश से गिरने वाला वर्षा का जल समुद्र में जा मिलता है, वैसे ही सब देवताओं को किया गया नमस्कार परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

दास्य-भक्ति

अपने को सदैव भगवान् का अकिंचन दास मानना ही दास्य भक्ति है। भगवान् के सभी सेवा-कार्यों को उल्लास और उत्साह से सादर पूर्ण करना दास का कर्त्तव्य होजाता है। मन्दिर में स्वच्छता, झाड़-बुहार, धोना पोंछना आदि कार्य भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। अभिप्राय यह है कि अपने को कोई पदाधिकारी, धनवान या बड़ा आदमी मान कर भगवान् की सेवा से बचना कभी हितकर नहीं हो सकता। वरन् सब प्रकार का अभिमान छोड़ कर भगवान् की सेवा का छोटे से छोटा कार्य भी स्वयं करना चाहिए। क्योंकि—

सुजन गरब नहिं करत हैं, नवत सम्पदा पाइ।
फल पल्लव युत तरु सदा, नीचौ झुकि हरियाइ ।।

तो, दास का कर्त्तव्य है कि वह अपने पद-मान का गर्व त्याग कर भगवान् की सेवा में सदा तत्पर रहे। यदि लक्ष्मी की कृपा हो तो देवालयों का जीर्णोद्धार कराना, नवीन मन्दिर बनवाना, ठाकुरजी के राग-भोग आदि का प्रबन्ध करना और सबके समक्ष विनम्र भाव प्रदर्शित करना दास्य-भाव का ही प्रतीक है।

अतिथि, ब्राह्मण, संन्यासी आदि की सेवा भी दास्य भक्ति का एक अंग है। उनको आतिथ्य सत्कार, भोजन, दान आदि से प्रसन्न करना तथा भक्तजनों की भी सेवा-सुश्रूषा करना दास्य भक्ति के साधकों का कर्त्तव्य होजाता है।

सख्य-भक्ति

यदि कोई भक्त अपने इष्ट देव को सखा-भाव से भक्ति करता है तो वह सख्य भक्ति कहलावेगी। उस स्थिति में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भगवान् को कब, कौन-सी वस्तु प्रिय हो सकती है उस समय वही वस्तु निवेदन की जानी चाहिए।

यह तो सभी जानते हैं कि भगवान् को कभी किसी वस्तु की न इच्छा है, न आवश्यकता ही। वे तो भक्त की भावना देख उसके लिए वैसा ही विधान निश्चित कर देते हैं। इसलिए भक्त को सदैव यह प्रयत्न करना उचित है कि जिस प्रकार भी हो सके, भगवान् को प्रसन्न रखे। यदि वे प्रसन्न हैं तो संसार भर में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं रहेगा जो आपके प्रति रोष प्रकट कर सके।

सांसारिक सुख नगण्य हैं, उनके फेर में न पड़े, वरन् भगवान् के निमित्त उनका भी त्याग कर दे। यदि भगवान् के प्रति सख्य-भाव का निर्वाह करने के लिए दुःखों का वरण आवश्यक हो तो किसी बात की चिन्ता न करे और भगवान् पर ही भरोसा रखे तो उन दुःखों का कोई प्रभाव नहीं हो सकेगा।

कुछ विद्वान् ऐसा मत रखते हैं कि भगवान् तो संसार के स्रष्टा, नियामक और अधीश्वर हैं, उन्होंने सभी जीवों को उत्पन्न किया है तो उनके साथ जीव का सख्य भाव कैसे निभ

सकता है ? परन्तु, उस मत के साथ कुछ समझने की भी आवश्यकता है। सखा-भाव स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा सभी के मध्य हो सकता है। सखा का अधिकार सेवक की अपेक्षा अधिक होता है, इसलिए उसे उत्तरदायित्व भी सेवक से अधिक ही वहन करना पड़ता है। इस प्रकार सेवक की अपेक्षा सखा से अधिक हित-साधन की आशा हो सकती है।

इससे यह कहना उचित होगा कि सखा का जो महत्व है वह सेवक का नहीं है और इसीलिए यदि कोई भक्त भगवान् के प्रति सखा-भाव रख कर भक्ति करता है तो वह अवश्य ही बहुत चतुर है और यदि उसकी भक्ति अधिक सुदृढ़ होजाती है तो भगवान् उससे सहज ही प्रसन्न होजाते हैं। इस प्रकार सख्य-भक्ति की महत्ता किसी प्रकार कम नहीं है।

आत्म-निवेदन-भक्ति

आत्म-निवेदन का अर्थ है भगवान् के प्रति स्वयं का समर्पण। जो भक्त आत्म-निवेदन के साथ भक्ति करता है, उसकी वह भक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की समझी जाती है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमा शुचः॥

—गीता १८।६६

अर्थात्—सब धर्मों (या कर्म के आश्रयों) को त्याग कर एक मात्र मेरी ही शरण में आ, मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा (इसलिए) तू शोक न कर।

कर्म के आश्रय कौन-से हैं ? यदि इस पर विचार करें तो स्पष्ट होजायगा कि सांसारिक विषय ही कर्म के आश्रय रूप हैं,

उन विषयों की पूर्ति के लिए ही मनुष्य को कर्म करने होते हैं अथवा वे धर्म जो कर्म करने के लिए विवश करते हैं, त्याग देने के योग्य हैं। क्योंकि उनसे कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि कर्म करेंगे तो उनके कारण जीव-हत्या आदि के पाप भी उत्पन्न होजाँयगे। अथवा राग-द्वेष, ईर्ष्या-क्रोध आदि की उत्पत्ति होकर मनुष्य को पापों के पंक में फसा देंगे। यदि उनको त्याग कर केवल भगवान् की शरण ले ली जाय, तो फिर कोई भी पाप शेष नहीं रह सकता। गीता में ही कहा है—'तमेव शरण गच्छ सर्व भावेन भारत' अर्थात् 'हे भारत! सम्पूर्ण भावों के सहित परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो।'

आत्म-निवेदन से पूर्व आत्म-ज्ञान भी आवश्यक है। वस्तुतः देखा जाय तो आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, यदि कुछ भेद है तो इतना ही कि अज्ञान का पर्दा पड़ा होने से आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जाता। यदि शास्त्रों का अध्ययन करें तो यह सहज ही समझ में आ सकता है कि आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद है। पंच तत्वों से बना हुआ शरीर कभी आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु अज्ञानीजन आत्मा और शरीर में कोई भेद नहीं मानते। वे कहते हैं कि शरीर में सुई चुभो दी जाय तो उससे आत्मा भी उत्पीड़ित हो उठेगी। तब यह कैसे मान लें कि आत्मा शरीर से भिन्न है?

इसका समाधान यह है कि शरार में सुई चुभोने से उसका प्रभाव भी श ीर पर ही पड़ता है। आत्मा को तो शरीर-सम्वन्ध के कारण उसका भान-मात्र होता है। परन्तु सुई शरीर को छेद सकती है, आत्मा को नहीं छेद सकती। भगवान् ने कहा भी है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

—गीता २।२३

अर्थात्—'इस आत्मा को शस्त्र नहीं छेद सकते, अग्नि नहीं जला सकती, जल नहीं भिगो सकता और न वायु ही सुखा सकती है।' इस प्रकार यह आत्मा सभी धर्मों और कर्म के आश्रयों से परे है। परन्तु शरीर के सम्पर्क में आने पर अज्ञान के कारण यह धर्मों और कर्माश्रयों का आश्रित हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा के अविनाशी होने का ज्ञान होने पर यह स्पष्ट होजाता है कि आत्मा और शरीर में कोई समानता नहीं है। क्योंकि शरीर में आत्मा से भिन्न (विजातीय) तत्व भरे हुए हैं और आत्म-तत्व का यह बोध होने पर मनुष्य अपने शरीर के प्रति मोह का त्याग कर परमात्मा की कृपा प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध होजाता है, वही सच्ची आत्म-निवेदन भक्ति है।

इसलिए भक्त का कर्त्तव्य होजाता है कि वह भक्ति के इन नौओं स्वरूपों को भले प्रकार समझे और काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, शोक आदि विकारों को त्याग कर इन्द्रिय-संयमी और सदाचारी बने। इन सब प्रयत्नों से उसे भगवान् की सुदृढ़ भक्ति और परम कृपा की अवश्य प्राप्ति होगी।

भक्ति के ग्यारह स्वरूप

नारद भक्तिसूत्र ८२ में भक्ति के ग्यारह स्वरूपों का वर्णन मिलता है। यथा—'गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति।'

अर्थात्—(१) भगवान् के गुण और माहात्म्य में अनुराग, (२) उनके रूप में अनुराग, (३) उनके पूजन में अनुराग, (४) स्मरण में अनुराग, (५) दासता में अनुराग, (६) मित्रता में

अनुराग, (७) पत्नी भाव से उन्हें पति मानते हुए कान्त-अनुराग, (८) पितृभाव से वात्सल्यानुराग (९) आत्मनिवेदन रूपी अनुराग, (१०) उनके प्रति तन्मय होने रूपी अनुराग, और (११) परम विरह रूपी अनुराग। इस प्रकार भक्ति ग्यारह प्रकार के रूप धारण कर लेती है।

इन ग्यारह में से अधिकांश रूपों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। भक्ति की यह अवस्थाएँ भक्त को अद्‌भुत शक्ति प्रदान करतों और अन्त में भगवान् से मिला देती हैं। इन सब अवस्थाओं में कान्त-अनुराग को अधिक उत्कृष्ट माना जाता है। ब्रज में ऐसे कुछ सन्त हुए हैं, जो कि स्वयं को प्रभु की कान्ता मान कर उनके प्रेम में आत्म-विभोर रहते-रहते ही गोलोक धाम को प्राप्त होगए। वृन्दावन के एक प्रसिद्ध सन्त-कवि 'चन्द्रसखी' के नाम से भक्ति-परक रचना करते हुए भगवत्प्रेम में मत वाले बने रहे। इस प्रकार इसमें जो माधुर्य-रस समविष्ट है, वह जोवन को रसिकता से परिपूर्ण और आह्लादित रखता हुआ परम श्रेय की उपलब्धि कराता है।

वात्सल्य भाव वाला भक्त भगवान् के बाल रूप का उपासक होता है। वह अपने को पिता के समान मानकर भगवान् के प्रति विशुद्ध वात्सल्य भाव रखता है। जैसे कि रामावतार में दशरथ ने और कृष्णावतार में नन्द ने रखा था। उनके लिए भगवान् में पुत्र-बुद्धि रखना ही मोक्ष प्रदान करने वाला हुआ।

तन्मयतासक्ति में भक्त अपने आराध्य के प्रति इतना आकर्षित रहता है कि उसके सामने न रहते हुए भी वह उसी के रूप चिन्तन में तन्मय रहता है। उसे अन्य किसी विषय का अनुभव ही नहीं होता, केवल आराध्य की आकृति ही नेत्रों के समक्ष नाचती रहती है। भक्त का यह भाव भी उसके लिए परम कल्याणकारी सिद्ध होता है।

परमविरहासक्ति

यह एक ऐसा भाव है जो भक्त को कभी चैन से नहीं बैठने देता। उसे तो केवल अपने प्रिय की प्राप्ति की ही लालसा लगी रहती है। उसके अतिरिक्त खाना-पोना, चलना-फिरना, सोना-बैठना, हंसना-बोलना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यहाँ तक कि कभी-कभी उन्माद जैसो अवस्था उत्पन्न होजाती है। उसमें आपा भी भूल जाता है और वह अपने प्रिय के विरह में कभी रोता है तो कभो हँसने लगता है, कभी गाता है तो कभी प्रिय के नाम की रटना ही लगाने लगता है। ऐसे अनेक भक्त देखे गए हैं जो विरह-व्यथा के कारण दैनिक कृत्यों का भी भूल गए और केवल अपने आराध्य का नाम हो रटते रहे।

विरहासक्ति की बढ़ी हुई अवस्था में उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि मैं अकेला हूं अथवा कोई दूसरा व्यक्ति मेरे पास है। उस स्थिति में वह स्वयं से बातें करने लगता है और ऐसे-ऐसे प्रश्नों के उत्तर चाहता है, जिनसे उसको शंकाओं का समाधान हो सके। परन्तु, जब वहाँ कोई अन्य है ही नहीं तो उत्तर कौन दे? और जब उत्तर नहीं मिलता तो वह खीझ कर इतना हो पूछता है—

कहा दोष मो पै बन्यौ, रूठ रहे जो नाथ।
एतौइ ऊतर दीजिये, कब ह्वै पाउँ सनाथ॥

और भगवान् उसको सहज ही उत्तर देना उचित नहीं समझते। वे उसके विरह-अनुराग को अधिक से अधिक दृढ़ करना चाहते हैं। इसलिए उन्हीं प्रश्नों में उलझता-सुलझता छाड़ देते हैं। क्योंकि उन्हें तो किसी से कुछ लेना-देना नहीं है। वे तो जैसा भाव होता है, वैसे ही फल की व्यवस्था करते हैं। क्योंकि उनके लिए सभो प्राणो समान हैं ओर ऐसा होने से ही वे समदर्शी कहलाते हैं।

ब्रज की गोपियां भी परम विरहासक्ति में ही लीन होकर अपने प्यारे कृष्ण को वन-वन ढूँढती, भटकती रहीं। उन्होंने वृक्षों और वन के जीवों तक से अपने प्राण प्रिय के विषय में में पूँछ ताँछ की उनकी दशा का वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है। भागवत का एक उद्धरण इस विषय में पर्याप्त होगा—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषण कातराः।
लीलाभगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥

अर्थात्—वे गोपियाँ इस प्रकार उन्मत्त के समान वचन कहती हुई भगवान् की खोज में विह्वल हो गई और तद्रूप होकर भगवान् की उन-उन लीलाओं को करने लगीं।

भक्ति के अन्य भेद

आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार भक्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। उनके विषय में जितना अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त हो सके, उतना हो अधिक कल्याणकारी है। क्योंकि 'अधिकस्य अधिकं फलम्' की उक्ति के अनुसार 'अधिक का फल भी अधिक होता है।'

भक्ति के विभिन्न भेदों में यह भेद भी प्रमुख माने जाते हैं- अपरा, परा, रागात्मिका, विरागात्मिका, सकाम्या, निष्काम्या, व्यभिचारिणी, अव्यभिचारिणी, गौणी, मुख्या, तामसी, राजसी और सात्विकी इनमें अपरा, सकाम्या, व्यभिचारिणी आदि गौणी भक्ति के अन्तर्गत और परा, विरागत्मिका, निष्काम्या, अव्यभिचारिणी आदि मुख्या भक्ति के अन्तर्गत आता हैं। भक्ति के परा आदि रूपों को अनन्या भक्ति भी कहते हैं।

अपरा भक्ति

जब भक्त भगवान् के प्रति आकर्षित होकर भक्ति का आरम्भ करता है तब उसकी भक्ति 'अपरा' कहलाती है। उस

अवस्था में वह कर्म-काण्ड और पूजा-पाठ को ही कर्त्तव्य समझता है। प्रतिमा को स्नान कराने, चन्दन लगाने, भोग सर्मपित करने, आरती उतारने और नमस्कार करने तक ही उसकी भक्ति सीमित रहती है। बहुत हुआ तो किसी मन्दिर में जाकर दर्शन कर लिये। अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष के नियमों को धारण कर उसी के अनुसार आचरण करने लगा। उस स्थिति में उसे अपने सम्प्रदाय का मत ही ठीक प्रतीत होता है और उसमें इतनी कट्टरता आजाती है कि उसी प्रकार के अन्य मत की निन्दा करने में भी पीछे नहीं रहता। परन्तु इस व्यवहार में उसका अपना कुछ दोष नहीं है, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में यह ज्ञान ही कैसे हो सकता है कि परमात्मा सर्व व्यापक है, वह किसी सम्प्रदाय विशेष के बन्धन में नहीं रह सकता। उसे प्राप्त करने के लिए किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमित परिधि नहीं, वरन् व्यापक दृष्टिकोण चाहिए।

सकाम्या भक्ति

सकाम्या भक्ति में भगवान के प्रति आकर्षण होते हुए भी परिवारीजनो और गृहस्थ के साधनों में चित्त फसा रहता है। इसलिए साधक द्वारा की जाने वाली यह भक्ति 'गौणी' कोटि की ही मानी गई है। इसका प्रारम्भ धन, वैभव, पत्नी, सन्तान, यश या पद आदि की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। परन्तु जब यह भक्ति धीरे-धीरे सुदृढ़ होने लगती है तब निष्काम भक्ति का रूप धारण करने लगती है। इस विषय में भक्त ध्रुव के उपाख्यान पर दृष्टि डालिए, जिसमें उसकी माता सकाम भक्ति की प्रेरणा देतो हुई कहती है—

पुत्र जाइ वन कीजिए, हरि-सेवा मन लाय।
सफल मनोरथ होंइ सब, आउ राज्य वर पाय॥

और पिता द्वारा प्रताड़ित एवं तिरस्कृत ध्रुव माता के आदेश से वन में जाकर सकाम भक्ति करने लगा। परन्तु धीरे-धीरे वह भक्ति परिपक्व होती गई और तब उसे कोई कामना ही शेष न रही।

व्यभिचारिणी भक्ति

व्यभिचारिणी भक्ति वह है जिसमें साधक भगवान् की भक्ति के लिए तत्पर होता है, परन्तु पत्नी, पुत्र, सम्पत्ति आदि का मोह उसे बार-बार अपनी ओर खींचता है। इस प्रकार कभी पत्नी, पुत्रादि से और कभी परमात्मा से प्रेम करना ही व्यभिचारिणी भक्ति है।

गृहस्थ के झंझटों में फँसे हुए मनुष्यों के लिए यह भक्ति भी आत्मोत्थान में बहुत सहायक होती है। क्योंकि भगवान् के प्रति प्रेम यदि कुछ क्षण भी किया जाय तो उससे परम हित-साधन हो सकता है। यह मान्यता भी है—

जो छिन हू जपि लेइ, 'राम नाम आंखर जुगल।
तौ कलि-मल तजि देइ, पावइ स्रेय सुरग सुखद ।।

भक्ति का यह रूप गृहस्थ भक्तों के लिए उपयोगी है। इसके द्वारा धीरे-धीरे परिवारीजनों और सम्पत्ति आदि के प्रति मोह घटता जाता है और भक्ति की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार जब इसमें अत्यधिक परिपक्वता आती है, तब यही अव्यभिचारिणी भक्ति का रूप धारण कर सकती है।

तामसी भक्ति

जिस भक्ति में तमोगुण की प्रधानता हो, वह तामसी भक्ति कहलाती है। इसका साधन मारण, उच्चाटन आदि के अभिप्राय से किया जाता है। किसी शत्रु की हत्या करने अथवा किसी अन्याय-मार्ग से सम्पत्ति आदि हथियाने के लिए इसी का

आश्रय लिया जा सकता है। इसमें राग, द्वेष हिंसा, क्रोध, अहंकार आदि गर्हित भावों का समावेश रहता है, इसीलिए इस भक्ति को निकृष्ट प्रकार की मानते हैं।

देवी आदि की उपासना में भी इसी का प्रयोग होता है। उसमें जो लोग अज्ञानवश पशु बलि जैसे जघन्य कृत्य करते हैं, वे सब इसी कोटि में आते हैं। देवी-देवताओं को मद्य आदि का अर्पण भी इसी प्रकार की उपासना का अंग है, जो कि मोक्ष-कामी जिज्ञासुओं और भक्तों के लिए व्यावहारिक नहीं है। यह भक्ति 'गौण' समझनी चाहिए।

राजसी भक्ति

यह भक्ति रजोगुण प्रधान होती है। सकाम भक्ति के समान भक्त इसमें धन सम्पत्ति, यश, एवं पद आदि की इच्छा से ईश्वर की भक्ति के लिए प्रेरित होता है। उसमें काम, क्रोध आदि का समावेश रहे तो भी कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि 'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः (गीता ३।३७) अर्थात् 'रजोगुण से उत्पन्न यह काम ही क्रोध है' अथवा यों कहिये कि 'यह काम और क्रोध दोनों ही रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए इस भक्ति को 'गौणी' ही माना जाता है।

इस प्रकार राजसी भक्ति भी कोई प्रशस्त नहीं है, परन्तु यदि यह भक्ति भी धीरे-धीरे स्थिर होती हुई काम क्रोधादि को कम करती हुई भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करा सकती है।

सात्विकी भक्ति

इस भक्ति को सत्वगुण प्रधान समझना चाहिए। इसका साधक वाह्य विषयों की वासना से विरक्त होने और भगवान् में चित्त लगाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है।

यद्यपि इसमें भक्त का सदुद्देश्य की ही प्रमुखता रहती है। फिर भी प्रारम्भिक होने के कारण इसे गौणी भक्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं।

परन्तु भक्त के सत्वगुण-प्रधान स्वभाव के कारण यह भक्ति शीघ्र ही अपनी परिपक्वावस्था ग्रहण करने लगती है और उस स्थिति में साधक भगवान् की कृपा को प्राप्त होकर कृत कृत्य बन सकता है।

परा-भक्ति

यह मुख्य भक्ति निर्गुण मानी जाती है। इसमें सत्व, रज, तम तीनों गुणों का अभाव होता है। इसका साधक सदैव कामना-रहित रहता है और कैवल्य (मोक्ष) की भी इच्छा नहीं रखता। चाहे परमात्मा की साक्षात् शक्तियाँ और विभूतियाँ भी उसे कितना ही क्यों न ललचायें, वह उनकी छलना में नहीं आता। वह तो केवल अपने भगवान् के दर्शन की आकांक्षा रखता हुआ उसी के सहारे जीवित रहता है। उसके हृदय में प्रभु-प्रेम की अखण्ड रस-धार प्रवाहित रहती है।

भक्ति का यह वह स्वरूप है जिसमें भक्त को भगवान् से भी कुछ प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं होती और ऐसे ही भक्त को भगवान् अपना सच्चा भक्त मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (१२।१६) में भगवान् स्वयं कहते हैं—

> अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
> सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

अर्थात्—जो व्यक्ति अपेक्षा (आकांक्षा) से रहित और (बाहर भीतर से) शुद्ध एवं कार्य-दक्ष हो तथा जो सब विषयों से उदासीन हो और सभी प्रकार के आरम्भ को त्याग चुका है, ऐसा ही मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

इसी की पुष्टि अन्य ग्रन्थों में भी मिलती है। श्रीमद्‌भागवत में कहा गया है—

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुः निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥

अर्थात्—निरपेक्षता ही सब से बढ़ कर मुक्ति कही जाती है। इसलिए भक्ति करने के लिए सब प्रकार से आशा-रहित (अपेक्षा-रहित) होना चाहिए।

निरपेक्षता का अभिप्राय यही नहीं है कि उसमें किसी से कुछ याचना न की जाय, वरन् यह भी है कि यदि कोई कुछ देना भी चाहे तो ग्रहण न करे। 'सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन' (तुलसी) अर्थात् 'जो सभी कामनाओं—इच्छाओं से रहित रहकर भगवान् के भक्तरस में लीन होजाते हैं' ऐसे भक्तों की भक्ति ही उत्कृष्ट है।

भक्ति का उद्‌देश्य ईश्वर प्राप्ति

भक्ति का प्रमुख उद्देश्य है आत्म-शोधन और उसके द्वारा ईश्वर की प्राप्ति। भगवान् का स्मरण, पूजन, नाम-जप, कीर्तन, कर्मकाण्ड आदि सभी मार्ग आत्म-शोधन का ही उपाय करते हैं। परन्तु, उन सब से उतनी उपलब्धि नहीं हो सकती, जितनी कि त्याग से सम्भव है। क्योंकि त्याग में ही सर्व लाभ की प्राप्ति है। त्याग ही एक ऐसा आवश्यक कर्म है, जिसके बिना अध्यात्म मार्ग में सफलता सन्देहास्पद रहती है।

सभी प्रकार की योग-विधियों में त्याग का अत्यन्त महत्व स्वीकार किया गया है। क्योंकि योगी पुरुषों या भक्तजनों के त्याग में किसी प्रकार के विकार का समावेश नहीं रहता उनका त्याग सहज, स्वाभाविक और इतना सरल होता है कि प्राणी-

मात्र उससे लाभान्वित हो सके। क्योंकि उसमें उदारता, दया और लोक-कल्याण की भावना के अतिरिक्त अन्य कोई भाव नहीं रहता।

चूडाला का उपाख्यान

योग वासिष्ठ में राजा शिखिध्वज और उनकी विदुषी पत्नी चूडाला का उपाख्यान मिलता है, जिसके अनुसार राजा अपनी प्रिय पत्नी और राज्य श्री को त्याग कर वन में चले गए। इधर चूडाला पहले से ही सब योग विधियों के जानने वाली और सिद्धि-सम्पन्न थी। उसने योग-बल से अपने पति के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को जान लिया और एक देव-पुत्र का रूप बना कर अपने पति के पास जा पहुँची और उसने उसे ब्रह्मज्ञान देना आरम्भ किया।

देवपुत्र रूपिणी चूडाला ने कहा—'राजन् ! आपकी पत्नी ने ज्ञेय वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था, फिर आपने उसके द्वारा दिये गए ज्ञानोपदेश पर ध्यान क्यों नहीं दिया ? यदि आपने उसके कथन को अमान्य कर दिया था तो सर्व त्याग का आश्रय क्यों नहीं लिया ?' राजा बोले—'देवपुत्र ! मैंने राज्य, गृह-द्वार, सम्पूर्ण देश और यहां तक कि अपनी पत्नी तक का त्याग कर दिया। तब आप कैसे कहते हैं कि मैंने सर्व त्याग नहीं किया ?.

चूडाला बोली—राजन् ! राज्य, गृह-द्वार, सम्पूर्ण देश, धन-वैभव और पत्नी आदि आपके तो नहीं हैं, फिर इनके त्याग से सर्व त्याग कहाँ से होगया ?' राजा ने कहा—'यदि आप राज्यादि को मेरा नहीं मानते तो न सही, परन्तु यह पर्वत, यह वृक्ष, यह गुल्मादि से युक्त वन तो मेरा है, मैं इसे भी त्यागे देता हूं।'

चूडाला ने कहा—'नहीं, यह भी आपके नहीं हैं।' यह सुन कर राजा ने कहा—'अच्छा तो यह वापी, स्थल आदि से समन्वित आश्रय तो मेरा है, मैं इसका त्याग करता हूं।' चूडाला बोली—राजन्! यह कुछ भी आपका नहीं है, इसलिए सर्व त्याग से उत्पन्न होने वाले परमानन्द की प्राप्ति के लिए यह मिथ्या अभिनय न कीजिए।'

शिखिध्वज ने कहा—'देवकुमार! इन्द्रिय रूपी दुष्ट सर्पों से युक्त और रस-माँसमय आकृति वाला यह शरीर ही मेरे पास शेष रहा है, मैं इसे भी अभी त्यागे देता हूं।' यह कह कर राजा अपने शरीर-त्याग के विचार से ज्यों ही सामने स्थित खन्दक में कूदने के लिये बढ़े, त्योंही चूडाला ने उन्हें रोकते हुए कहा—'राजन्! आप तो इस समय उस मूर्ख के समान होरहे हैं जो अपने ही बछड़े को मारने के लिए दौड़ता है। परन्तु, यह शरीर तो मूक और निरपराध है, आप व्यर्थ ही इसका परित्याग मत कीजिए। क्योंकि देह-त्याग से भी सर्व त्याग सिद्ध नहीं होगा। किन्तु जो सर्वगत, और सर्वथा त्याज्य है, उस सर्वात्मक का मन से त्याग करने से उद्देश्य पूर्ण हो जायगा।'

राजा ने पूछा—'हे तत्वज्ञानियों में श्रेष्ठ! हे ऋषिकुमार! वह सर्वगत, सर्वत्र और सदैव त्यागने योग्य वस्तु कौन-सी है? उसे मुझे बताइये।' तब राजा की जिज्ञासा देख कर चूडाला बोली—

साधो सर्वगताकारं जीवप्राणादिनामकम्।
न जडं नाऽजडं भ्रान्तं चित्तं सर्वमिति स्मृतम्॥
चित्तमेव भ्रमं विद्धि विद्धि चेतो नरं नृप।
चित्तं विद्धि जगच्जालं चित्तं सर्वमिति स्मृतम्॥
सर्वस्य बीजे संत्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम्।
सम्भवासम्भवाद्भूप सर्वं त्यागो भवेदिति॥

अर्थात् –'हे साधो ! सर्वगत आकार एवं जीव, प्राण आदि संज्ञा वाला जो चित्त है वह सर्व संज्ञक कहा जाता है। यह न जड है, न अजड है, वरन् अनेक प्रकार से भ्रान्त है। चित्त ही भ्रम है, यही व्यवहार करने वाला पुरुष तथा यही संसार-जाल है। इसी को सर्वात्मक कहा गया है। सब के बीज भूत उस चित्त के त्याग से ही सर्वत्याग सिद्ध होता है और उसके न त्यागने से सर्व त्याग नहीं होपाता।

इस प्रकार चूडाला ने अपने पति को जिस चित्त के त्याग का उपदेश किया उसके त्याग का समर्थन अनेकानेक उपनिषद् आदि शास्त्रों के द्वारा भी हुआ है। अन्नोपूर्णोपनिषद् का मत है—

चित्ते चैत्यदशाहीने या स्थितिः क्षीणचेतसाम्।
सोच्यते शान्त कलना जाग्रत्येव सुषुप्तता॥

अर्थात्—चित्त जब विषयों की दशा से शान्त होजाता है और उससे मन का नाश होकर जिस अवस्था की प्राप्ति होती है, उसमें विषयों की वासना भी शान्त होजाती है और तब जाग्रति में भी सुषुप्ति अवस्था रहने लगती है।

श्रेय प्राप्ति में चित्त संयम की अपेक्षा

इसीलिए अन्य उपनिषद् कारों ने भी चित्त-संयम पर पूर्ण बल दिया है। शाट्यायनीय उपनिषद् की मान्यता है कि 'मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। क्योंकि जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का और जो विषयों से विमुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।' पाशुपतब्रह्मोपनिषद् का कथन है कि 'चित्ते शुद्धे क्रमाज्ज्ञानं त्रुटयन्ते ग्रन्थयः स्फुटम्' अर्थात् 'जब चित्त शुद्ध होजाता है, तब क्रम से ज्ञान की उत्पत्ति और अज्ञान की ग्रन्थियों का नाश होता जाता है।'

वृहदारण्यक के अनुसार 'जब हृदय में रहने वाली कामनाएँ नष्ट होजाती हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य ही अमृत होजाता है, और उसे इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति होजाती है।' इस प्रकार उपनिषद् आदि में मन को पवित्र रखने, और इन्द्रियों में आसक्त न होने देने के निर्देश स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि मन को कामनाओं से रहित, पूर्ण रूप से शान्त और निरपेक्ष बना कर भगवान् की उपासना करने से पराभक्ति की स्थिरता सिद्ध होती है।

विरागात्मिका भक्ति

परा भक्ति के समान ही विरागात्मिका या वैराग्यात्मिका भक्ति है। इसमें भी भक्त के मन में सभी सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य उत्पन्न होजाता है और तब वह दत्त चित्त होकर तन्मयता पूर्वक भगवान् की भक्ति करता है। उस समय उसे धन, वैभव, स्त्री, पुत्र आदि कुछ भी अच्छा नहीं लगता। 'येन सर्वात्मना विष्णो भक्त्या भावो निवेशितः' इत्यादि (गरुण पुराण) अर्थात् 'जिसने सर्वात्म स्वरूप से (पूर्णतया विरक्त होकर) भक्ति-भाव के सहित भगवान् में अपने को लीन कर लिया है, वह महाभागवत होता है।'

निष्काम्या भक्ति

जिस प्रकार की भक्ति में भक्त को कोई कामना न रहे, वह निष्काम्या भक्ति है। कामना ही मनुष्य को सांसारिक भोगों में लिप्त करके परमात्मा से विमुख रखती है। इसलिए वही उसे जन्ममरण के चक्र में घुमाती हुई भवसागर से मुक्त

नहीं होने देती। इसीलिए सभी विचारक कामना के त्याग को आवश्यक बताते हैं।

कुछ विद्वानों ने इसी भक्ति को 'अनन्या' नाम दिया है। वस्तुतः परा, निष्काम्या, विरागात्मिका, अनन्या, अव्यभिचारिणी आदि नामों से कही जाने वाली भक्ति प्रायः समान ही हैं और यह सभी मुख्य मानी जाती हैं।

अव्यभिचारिणी भक्ति

अव्यभिचारिणी भक्ति वह है, जिसमें चित्त वृत्ति भगवान् के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र नहीं जाती। 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः' (गीता ८।१४) अर्थात् 'जो पुरुष मुझ में अनन्य चित्त से स्थित हुआ सदा मेरा ही स्मरण करता रहता है, उसकी भक्ति अव्यभिचारिणी होती है। अन्यत्र भी कहा है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा माताः॥

—गीता १२'२

अर्थात्—मेरे में मन को एकाग्र करके निरन्तर मुझ में ही मन लगाये हुए जो भक्त परम श्रद्धा से सम्पन्न होकर मुझे भजते हैं, उन्हें मैं सब भक्तों में श्रेष्ठ मानता हूं।

इसमें 'नित्ययुक्ता' का अर्थ है निरन्तर भगवान् से ही जुड़ा रहना। यदि क्षणभर को भी चित्त भगवान् के चिन्तन से हट जायगा तो 'नित्ययुक्ता' के भावार्थ में व्यवधान पड़ जायगा और तब भक्ति भी अपना अव्यभिचारिणी रूप छोड़ देगी।

गरुड़ पुराण के अनुसार 'दृढा जनार्दने भक्तिर्यदैवाव्यभिचारिणी' अर्थात् 'भगवान् जनार्दन सुदृढ़ भक्ति का होना ही अव्यभिचारिणी भक्ति है।' मीरा भी ऐसी ही भक्ति में

दीवानी थी—'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरों न कोई' उसे सामाजिक प्रतिष्ठा, सगे-सम्बन्धी यहाँ तक कि पति भी उस मार्ग से एक क्षण भर के लिए भी न हटा सके। गोस्वामीजी के शब्दों में—

उर अभिलाष निरन्तर होई।
देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥

जो लोग सांसारिक विषय भोगों में आकर्षित हैं, उनका मन अधिक चंचल होता है। वह कभी धन की ओर दौड़ता है तो कभी किसी पद को प्राप्त करने के विचार से उधर छलांग लगा देता है। कभी कामिनी के कमनीय शरीर और सुन्दर मुख का ध्यान आ गया तो उस ओर ही चल दिया। कभी पुत्र, मित्र अथवा कार्य-व्यापार के उद्देश्य से चक्कर लगाने लगा। कभी शत्रु के अनुचित व्यवहार पर क्रोध की उत्पत्ति हुई तो कभी किसी अपने से अधिक ऐश्वर्यवान् के ऐश्वर्य से प्रतिस्पर्द्धा का उद्‌गम हो गया। इस प्रकार यह मन स्वल्प समय में ही न जानें कहाँ-कहाँ घूम आता है। 'मन तौ अति चंचल रहै टिकै नाहिं इक ठौर' एक कहावत है—'लक्ष्मी और मन कहीं बँध कर नहीं रहते।'

मन का बाँधना आवश्यक

परन्तु भव के फन्दे से छूटना है तो मन को बांधना ही होगा। यदि नहीं बांधोगे तो वह स्वयं तो स्वच्छन्द रहेगा, परन्तु तुम्हें अपने बन्धन से मुक्त नहीं होने देगा। यदि वह तुम्हारे वश में नहीं आता है तो धीरे-धीरे प्रयत्न करो और इतने पर भी उसकी उच्छृंखलता दूर न हो तो उसे बलपूर्वक रोको। गीता (१२।८) में भगवान् स्वयं आदेश देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।

अर्थात्—मन को मेरे में स्थापित करके बुद्धि को भी मेरे में ही लगा दे, ऐसा होने पर तू मुझ में ही निवास करेगा अर्थात् मुझे ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ संशय नहीं है।

भगवान के उक्त आदेश से सब समस्या सुलझ जाती है। जो वस्तु तुम्हारे वश से बाहर हो गई है उसे अपने पास से हटा कर भगवान् को ही समर्पित कर दो तो वे स्वयं उसे अनुशासित कर देंगे। जब मन भगवान् में समर्पित हो जायगा और बुद्धि भी वहीं पहुँच जायगी तब उन दोनों का तादात्म्य अथवा एक रूप हो जायगा, उस अवस्था में मन और बुद्धि दोनों ही अन्य विषयों से दूर हट कर भगवान् के रंग में ही रँगे रहेंगे और तब भक्ति का जो रूप होगा उसे 'अव्यभिचारिणी' ही कहा जायगा।

अनेक भक्तों को देखते हैं—भगवान् के भजन गाते, उनका नाम-संकीर्तन करते और उनकी प्रसन्नता के उद्देश्य से बड़े-बड़े उत्सवों का आयोजन करते हैं। बहुत-से भक्त नाचते-कूदते गलियों, बाजारों आदि में भी घूमते देखे जाते हैं। परन्तु, उनमें ऐसे कितने ', जो भगवान् में एकाग्र चित्त लगाये रहते हों? यदि उनका चित्त स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्य, पद व्यापार आदि में फँसा है तो कितना भी गान, कीर्तन, भजन आदि क्यों न किया जाय, उसमें स्थिर भक्ति की विद्यमानता नहीं रह सकती। योग वासिष्ठ के अनुसार—

विद्धि चित्तं नरं देवमसुरं स्थावरं स्त्रियम् ।
नागं नगं पिशाचादि खग कीटादि राक्षसम् ।।
प्रमाणं तस्य चाऽनन्तं विद्धि तद्यत्र रेणुताम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगद्याति सहस्रशः ।।

अर्थात्—(वसिष्ठजी ने कहा, हे राम !) तुम चित्त को ही मनुष्य, देवता, दैत्य, स्थावर, स्त्री, नाग, पर्वत, पिशाच, पक्षी, कीट और राक्षस आदि समझो। इसके अनन्त प्रमाण हैं कि उसमें परमाणु से ब्रह्मा पर्यन्त हजारों जगत समाये हुए हैं।

'स्वसंकल्पवशान्मूढो मोहमेति न पण्डितः (यो. वा.) अर्थात् 'मूढ़ मनुष्य अपने ही संकल्पों के वशीभूत होकर मोह को प्राप्त होता है, परन्तु जो सत्-असत् के विवेक से युक्त (पण्डित) है वह मोह में नहीं पड़ता।' इसलिए मोह को त्याग कर सत्य का ही बुद्धि से विचार करना चाहिए। योगवासिष्ठ में ही 'राजा लवण' का एक उपाख्यान इस विषय को अधिक स्पष्ट करता है वह इस प्रकार है—

राजा लवण का उपाख्यान

अनेक सुन्दर वनों से समाकुल एक जनपद था, जिस पर सत्य हरिश्चन्द्र के वंश में उत्पन्न लवण नामक राजा शासन करता था। वह राजा अत्यन्त बुद्धिमान, प्रजापालक और यशस्वी था। उसकी शुभ कीर्ति दिग्दिगन्तों में व्याप्त हो रही थी। एक दिन वह अपनी सभा में सभी विद्वान् सभासदों और मन्त्रियों के साथ उच्च सिंहासन पर सुशोभित था, तभी एक ऐन्द्रजालिक (जादूगर) वहां आकर बोला-'राजन् ! आपसे निवेदन है कि मेरा एक खेल देखने की कृपा करें।'

तभी उसने एक माया का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। सभी उपस्थित व्यक्तियों ने देखा कि उस सभा में सिन्धु देश के एक सामन्त ने प्रवेश किया। उस सामन्त के पीछे एक परम सौम्य एवं अत्यन्त वेगवान् अश्व भी प्रविष्ट हुआ। अभिवादन के पश्चात् उस सामन्त ने राजा से निवेदन किया—'हे महीपते !

आप भूमण्डल के अधिपति की सेवा में मेरे स्वामी ने यह उच्चैश्रवा नामक अश्व रत्न भेजा है, क्योंकि महान् पुरुषों की सेवा में समर्पण करने से वह पदार्थ भी अधिक शुभ हो जाता है।'

तभी जादूगर ने राजा से प्रार्थना की–'हे विभो! आप इस सुन्दर घोड़े पर चढ़ कर त्रिभुवन में विहार कीजिए।'

यह सुन कर राजा उस अत्यन्त सुन्दर और सुगठित अश्व को चित्रलिखे के समान स्तम्भित होकर एकटक देखने लगा। उस समय उसकी स्थिति अश्व के प्रति अर्पित जैसी होगई थी। राजा को इस प्रकार समासक्त देखकर सभी मन्त्री और सभासद गण अत्यन्त विस्मित और चिन्तित हो उठे। उन्हें लगा कि यह इस जादूगर की ही जादूगरी है, जो कि भय और विषाद में डालने वाली है।

राजा बहुत समय तब मूर्च्छितावस्था में रह कर चेत में आये। यह देखकर प्रधान मन्त्री ने हाथ जोड़ कर उनसे पूछा-'महाराज! आप तो अत्यन्त स्वच्छ मन वाले हैं, इस सम्भ्रम में कैसे निमग्न होगए? यह सुनकर राजा ने अपने को सभाला और नेत्र खोल कर मुसकराते हुए उस मन्त्री की ओर देखने लगा।

अभी तक उसकी आंखों में कुछ खुमार शेष था। फिर भी उसने धीरे-धीरे कहना प्रारम्भ किया 'मन्त्रि प्रवर! सभासद्-गण! मैंने जिस आश्चर्य का अवलोकन किया है, वह आपको सुनाता हूं। मैंने इस अश्व पर चढ़ने का विचार किया और अकेले ही शिकार खेलने की प्रवृत्ति की। मैं जैसे ही इस पर चढ़ा, वैसे ही यह मुझे अत्यन्त वेग से बहुत दूर ले पहुँचा। वह वन प्रलय से निर्दग्ध, वृक्षों और पक्षियों से हीन तथा जल से रहित था। उस अरण्य में पहुंच कर मेरी मति तो खिन्नता को प्राप्त हुई हो थी, अश्व भी बुरी तरह थक गया था। फिर भी मैंने अपने विवेक से एक जम्बीर खण्ड के नीचे पहुँच कर आल-

म्बन प्राप्त किया। परन्तु जैसे गंगा-स्नान से दुष्कृतों का संचय चला जाता है, वैसे ही वह अश्व भी वहाँ से चला गया।

उस स्थान पर मैं मोह में मग्न हुआ पड़ा रहा और वह रात्रि एक कल्प के समान बड़ी कठिनाई से व्यतीत हुई। शीत से आर्त्त हुई मेरी दन्त-पंक्ति के सीत्कारों और अन्धकार के संघातों के साथ उस रात्रि का अवसान हुआ और भगवान भास्कर के दर्शन हुए। तभी मुझे चचल कनीनिका युक्त नेत्रों वाली, अधवल वस्त्र धारिणी श्यामा दारिका भ्रमण करती हुई दिखाई दी, जिसके हाथ में ओदन था। उस ओदन को देखते ही मुझे क्षुधा सन्तप्त करने लगी। मैंने अत्यन्त व्याकुलता पूर्वक उससे कहा-'हे बाले! मुझे बहुत भूख लगी है, मुझे भी थोड़ा-सा ओदन खाने के लिए दो।'

परन्तु, उस कृष्णवर्णा युवती ने उत्तर दिया—'यह ओदन इस प्रकार नहीं मिल सकता महाराज! यह अन्न मेरे पिता का है, वे यहाँ बैलों को चलाने का कार्य करते हैं।'

मैंने उससे पुनः याचना की तो वह बोली—'राजन्! मैं हारकेयूरी नाम की चाण्डली हूं। यदि आप मेरे पति होजाँय तो इसे आपको दे सकती हूं।'

अब मेरे समक्ष विकट समस्या थी। फिर भी मैंने सोचा कि आपत्तिकाल में वर्ण, जाति, कुल आदि का कौन विचार करता है? यह सोच कर मैंने उसे पत्नी बनाना स्वीकार कर लिया, तब उसने उस ओदन का आधा भाग मुझे दिय। तब ओदन खाकर और जम्बू फलों का रस पीकर कुछ देर वहीं विश्राम किया। इसके बाद वह मुझे भयंकर आकार और दूषित आचार वाले अपने पिता के पास ले गई और सब वृत्तान्त सुना कर मेरे साथ विवाह करने की अनुमति माँगी, जो कि उसे मिल गई।

तब हम दोनों उसके घर पहुंचे। वहाँ कटे हुए शूकर, घोड़े बन्दर, मुर्गे और कौए आदि पड़े हुए थे। हारकेयूरी की माता केकराक्षि ने मुझे अपना जामाता जान कर अभिनन्दन किया। कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात् उसने अपनी पुत्री मुझे सौंप दी। उसके पश्चात् मैं भी उसी वातावरण में रम गया और धीरे-धीरे वर्षों व्यतीत होगए। इस बीच मेरे तीन सन्तान हो चुकी थीं। तभी उस प्रदेश में भीषण अकाल पड़ा और देखते-देखते ही वहाँ उद्दाम दावानल ने सम्पूर्ण अरण्य को भस्मीभूत कर दिया। वहां रहने वाले जीव, जिधर मार्ग मिला, उधर ही भाग निकले। मैं भी उस स्त्री और पुत्रों के साथ उस अरण्य से चल पड़ा।

उस अरण्य से दूर निकल कर एक तालवृक्ष के नीचे विश्राम किया। सब से छोटा पुत्र मुझे बहुत प्यारा था। उसने अत्यन्त दीन होकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से मुझसे कहा—'तात ! मुझे शीघ्र ही खाने को मांस और पीने को रुधिर दो।' इस प्रकार कहता हुआ वह बार-बार रोने-चीखने लगा। उसके महान् दुःख को देख कर मैं भी अत्यन्त दुःखित हो रहा था। अतः उस स्थिति में मैंने मृत्यु का वरण करने का निश्चय कर लिया।

तदुपरान्त मैंने इधर-उधर से काष्ठ एकत्रित करके एक चिता बनाई और जैसे ही उसे जला कर उसमें अपने शरीर को डाला कि वहां से वेग पूर्वक उठ चला तथा तूर्य की ध्वनि तथा जयजयकारों से बोधित होने लगा और अब मेरी मूर्छा पूर्ण रूप से नष्ट होगई है। अब मैं समझ गया हूं कि—

इति शाम्बरिकेणायं मोह उत्पादितो मम।
अज्ञानेनेव जीवस्य दशाशत समन्वितः॥

अर्थात्—इस प्रकार से शाम्बरिक द्वारा मुझे महामोह की प्रप्ति हुई थी। यह जीवात्मा अपने ही अज्ञान से सैकड़ों दशाओं का प्राप्त कर उनसे युक्त होता रहता है :

राजा द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वह जादूगर तुरन्त अन्तर्धान होगया। तभी सब सभासदों ने कहा—'देव ! यह जादूगर नहीं था, क्योंकि इसने धन की इच्छा नहीं की। इससे प्रतीत होता है कि यह कोई ऐसी दैवी माया थी, जिसका उद्देश्य संसार को मन का ही विवर्त्त सिद्ध करना था। इससे 'सर्वशक्तेरनन्तस्य विलासो हि मनो जगत्' अर्थात् 'यह जगत् उस सर्व शक्तिमान् और अनन्त मन का ही विलास है।' मैत्रेय्युपनिषद् में भी इसका प्रतिपादन हुआ है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम्॥

अर्थात्—चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक उसे शुद्ध करना चाहिए। क्योंकि 'जिसका जैसा चित्त उसकी वैसी ही गति' यह एक सनातन सिद्धान्त है।

मन को स्थिर रखने के उपाय

इस प्रकार भक्ति में सर्वोत्कृष्ट स्थिति लाने के लिए मन का शोधन अत्यन्त आवश्यक है। शोधन होने पर उसमें जो स्थिरता आती है, वह परम शान्ति के देने वाली होती है। महर्षि पतंजलि ने मन को स्थिर करने के अनेक उपाय बताये हैं। उनमें (१) मलों को निवृत्त करना, (२) प्राणायाम करना, (३) विषयवती प्रवृत्ति, (४) शोकरहित वृत्ति, (५) वीतराग पुरुषों का अनुकरण (६) स्वप्न और निद्रा की अवस्था, और (७) अभिमत का ध्यान। इन्हें इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) चित्त में छः प्रकार का मल उत्पन्न होता है—राग कालुष्य, ईर्ष्या कालुष्य, परोपकार चिकीर्षा कालुष्य, असूया कालुष्य, द्वेष कालुष्य और अमर्ष कालुष्य। इनमें प्रथम कालुष्य वह है जिसमें सुखी रहने की इच्छा होते हुए भी साधनों के

अभाव में सुखी न रह सके। दूसरा वह है जिसमें परायी सम्पत्ति से ईर्ष्या उत्पन्न हो जाय। तीसरा वह है जिससे अपने द्वारा परायी निन्दा हो। चौथा वह है, जिसमें दूसरों के गुणों में दोष देखना, जैसे विद्वान को मूर्ख समझना। पांचवाँ वह है, जिसमें किसी से द्वेष किया जाय। छठा वह है जिसमें बदला लेने की भावना निहित हो।

अब इन कालुष्यों को दूर करने का उपाय बताते हैं-(१)सुखी मनुष्यों को देख कर स्वयं को ही सुखी मान लेना, (२) अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रहना और पराये वैभव पर न ललचाना, (३) परायी निन्दा करने से पहिले अपने उन गुणों को खोजना, (४) दूसरों के गुणों का निष्पक्ष रूप से मूल्यांकन करना, (५) द्वेष-भाव को त्याग देना, (६) यथा सम्भव गम खाना।

(२) प्राणायाम के अभ्यास से चित्त को स्वच्छ करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्राणायाम अनेक प्रकार के हैं, परन्तु सामान्य प्राणायाम वह है जिसमें पूरक, कुम्भक और रेचक की क्रिया विधिवत् की जाती है। परन्तु, सूत्रकार ने 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (यो० द० १।३४) कह कर रेचक, कुम्भक वाले एक विशेष प्राणायाम के द्वारा मन को निमल करने का निर्देश किया है। उदरस्थ वायु को विशेष प्रयत्न से नासा छिद्रों के द्वारा बाहर फेंकने की क्रिया प्रच्छर्दन और बाहर फेंकी हुई वायु को बाहर ही रोकने की क्रिया को विधारण कहते हैं। यह प्राणायाम अभ्यास से सिद्ध होता है।

(३) इन्द्रियों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द रूपी पंच विषयों से जो साधना वृत्ति उत्पन्न होती है, उससे भी मन की स्थिति का निरोध होता है। जैसे नासाग्र में संयम से दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, वह गन्ध प्रवृत्ति है। जिह्वाग्र में दिव्यरस का साक्षात्कार रस-प्रवृत्ति तथा ालु में दिव्य रूप

का साक्षात्कार रूप प्रवृत्ति है। जिह्वा के मध्य भाग में दिव्य स्पर्श की प्रतीति स्पर्श प्रवृत्ति है। जिह्वामूल में संयम से शब्द-साक्षात्कार होना ही शब्द प्रवृत्ति है। इस प्रकार उत्पन्न हुई प्रवृत्तियां चित्त की स्थिति को बांधने में सक्षम हैं। इसे विषयवती प्रवृत्ति कहते हैं। अभ्यास से इनकी सिद्धि होती है।

(४) 'विशोका वा ज्योतिष्मती' (यो० द० १।३६) जैसे उपर्युक्त प्रकार से चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, मणि, दीपक आदि में संयम करने से ज्योति का साक्षात्कार होता है, (यह भी विषयवती प्रवृत्ति है) वैसे ही विशोका प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करती है। इसमें मन को हृदय-पद्म में स्थिर किया जाता है। हृदय स्थान में आठ पंखुड़ियों वाले कमल के समान एक ग्रन्थि है, इसका मुख नीचे, मूल ऊपर और पंखुड़ियाँ बन्द रहती हैं। प्राणायाम के अभ्यास से इस अधोमुखो कमल के मुख को ऊपर की ओर किया जाता है जिससे शोक-रहित की प्राप्ति होती है इसका अभ्यास किसी अनुभवी योगी के सान्निध्य में किया जा सकता है।

(५) 'वीतरागविषयं वा चित्तम् (यो० द० १।२७) जो व्यक्ति अपने राग-द्वेष नष्ट कर चुके हैं, उन्हें ध्येय बना कर उनके समान अपनी भावना करने अर्थात् अपनी मानसिक स्थिति उन्हीं के सामान बना लेने से, वैसा ही अनुभव होने लगता है। इसीलिए अनेक आचार्यों का मत है कि सत्पुरुषों के समान आचरण करो। 'सन्तन की गाथा सुनौं, भगति देइ उपजाइ' अथवा 'महाजनो येन गतः स पंथः' जिस ओर महान् पुरुष चलें वही मार्ग है। यह उद्धरण भी महर्षि पतंजलि की ही पुष्टि करते हैं।

(६) 'स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनं वा' (यो० द० १।३८) स्वप्न में देखे जाने वाले अलौकिक पदार्थ कभी-कभी चित्त को अत्यंत

दिव्य रस का साक्षात्कार रस प्रवृत्ति है। तालु में दिव्य रूप आनन्दित करते हैं, वैसा आनन्द जागृत अवस्था में प्राप्त नहीं होता। उस आनन्द में मन की स्थिरता भी होती है। जैसे कि स्वप्न में कोई ऐसा दृश्य देखा जाय, जिससे वैराग्य की ओर आकर्षण होने लगता है। ऐसी प्रवृत्ति किसी शवयात्रा में भी होती है, जिसे श्मशान वैराग्य कहते हैं। परन्तु, यह सब प्रवृत्तियाँ क्षणिक होती हैं। यदि इन्हें दृढ़ करने का अभ्यास किया जाय तो मन का संयम होना कठिन नहीं है।

(७) 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (यो० द० १।३८) अथवा जो जिसे अभिमत हो उसके ध्यान से मन की चंचलता दूर हो जाती है इस प्रकार अपने प्रिय आराध्य (इष्टदेव) के ध्यान का अभ्यास करना मन की स्थिरता में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है।

यह तो रहे मन को स्थिर करने के उपायों का विवेचन, अब यह बताना भी उचित होगा कि मन को स्थिर करने के अभ्यास के साथ ही उसे बाह्य विषयों से विरक्त करने का अभ्यास भी करना चाहिए। क्योंकि चित्त की चंचलता नष्ट होने पर इन्द्रियों का निरोध सहज हो सकता है। इस अवस्था में बाह्य विषयों से विमुख हुआ चित्त आत्मतत्व के अभिमुख होता,परन्तु इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों से विमुख हो होती है। इस प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के स्वरूप में तदाकार-सी हो जाती हैं, यही प्रत्याहार है। 'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' अर्थात् प्रत्याहार होने से इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है। वस्तुतः इसी स्थिति के होने से अव्यभिचारिणी भक्ति की सिद्धि सहज रूप से सम्भव है। एक आचार्य का कथन है—

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्।
एतज् ज्ञानञ्च ध्यानञ्च शेषेऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥

अर्थात्—मन का निरोध तब तक करे जब तक वासनाएँ नष्ट न हो जाँय यही ध्यान है, शेष सब तो ग्रन्थों का विस्तार मात्र है ।

मानस नवधा भक्ति

गोस्वामी तुलसीदास जी नवधा भक्ति का वर्णन अपने शब्दों में निम्न प्रकार किया है—

प्रथम भगति सन्तन कर संगा ।
दूसर रति मम कथा प्रसंगा ।।
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन, करै कपट तजि गान ।।
मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा । पंचम भजन सो वेदप्रकासा ।।
षट दम शील विरत बहु कर्मा । निरत निरन्तर सज्जन धर्मा ।।
सतइँ सब मोहिमय जग देखे । मोते सन्त अधिक कर लेखे ।।
अठइँ जथा लाभ सन्तोषा । सपनेहुं नहिं देखै परदोषा ।।
नवल सरल सों छल होना । मम भरोस हिय हरष न दीना ।।

इस प्रकार भक्ति के स्वरूप विषयक विभिन्न मत होते हुए भी उन सब का सार यही है कि अपने आचरणों को शुद्ध रखे और राग-द्वेषादि भावों से उन्मुक्त रहे । मन की श्रेष्ठ गति ही भक्ति को स्थिर रख सकती है । पुराणों में भगवान् का निम्न निर्देश सार रूप से मिलता है—

मद्‌गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽबुधौ ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।।

अर्थात्—जैसे गंगा के प्रवाह की गति समुद्र की ही ओर अप्रतिरुद्ध और स्वाभाविक होती है, वैसे ही मेरे गुणों को सुन

कर भक्त के मन की जो गति मुझ सर्व व्यापक में अविच्छिन्न रूप से होती है, वही भक्तियोग का लक्षण है।

इसका तात्पर्य यही है कि जब मनुष्य स्वार्थ, लालसा, आशंका या भय आदि के कारण नहीं, वरन् मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण भगवान् की ओर जाता है और उन्हीं में तल्लीन होजाता है तो वह भक्तियोग का अधिकारी माना जाता है और वह उसी के द्वारा आत्म-साक्षात्कार तथा ब्रह्म-साक्षात्कार में समर्थ होता है। श्रीमद्भागवत में प्रभु की प्राप्ति के विषय में निम्न प्रतिपादन मिलता है।

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्—
दृष्टश्रुतान्मद्रच नानु चिन्तया।
चित्तस्य तत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभियोगमार्गैः ॥

अर्थात्—भगवान् की कथा के श्रवण से मनुष्य के हृदय में भक्तिभाव उत्पन्न होता है। भक्ति होजाने पर देखे और सुने हुए इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। ऐसा योग युक्त पुरुष आत्म-साधन के उद्योग में तत्पर होकर ऋजु योग द्वारा प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।

इस प्रकार भक्ति के इन लक्षणों पर विचार करके आत्म-कल्याणार्थ यथाशक्ति मन का निरोध करते हुए भगवद्-भक्ति को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। ❀❀❀

भक्ति का ध्येय प्रभु-प्राप्ति

भक्तियोग का वास्तविक ध्येय साधक को परमश्रेय की प्राप्ति कराना है। आप किसी भी देवता-देवी आदि की उपासना

करें, वह सब भगवान् को ही प्राप्त होती हैं। क्योंकि एक भगवान् ही अनेक नामों से कहे जाते हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती' अर्थात् 'विद्वानों ने उस एक ही सत्स्वरूप ब्रह्म को बहुत प्रकार से कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् 'यह एक ही था, दो नहीं।' शिवपुराण में प्रतिपादन है—'एक एव तदारुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन' अर्थात् 'तब (सर्गारम्भ से पूर्व) अकेला रुद्र ही था, अन्य कोई नहीं था।' विष्णु पुराण (१।२।६६) के अनुसार भी ऐसा ही सिद्ध होता है। यथा—

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम्।
स संज्ञा यान्ति भगवानेक एव जनार्दनः॥

अर्थात्—वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्पादन, पालन और संहार करने वाला है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसी के नाम हैं।

वृहन्नारदीय पुराण (१।२।५) भी इसी की पुष्टि इस प्रकार करता है—

तमादि देवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधाम्।
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते॥

अर्थात्—उस अनादि, अजर परमात्मा को कोई शिव कहते हैं और कोई नित्य सत्य विष्णु कहते हैं, तथा कोई ब्रह्मा नाम से पुकारते हैं।

सृष्टि में अनेक प्रक्रियाओं का प्रादुर्भाव होता है। समय और उसकी आवश्यकता के अनुसार उनकी संचालिका शक्तियाँ भी बहुत होतीं और अपने विभिन्न नाम-रूप धारण कर लेती हैं। यद्यपि वे सभी शक्तियाँ परमात्मा की ही हैं और उसी की इच्छा से उनका प्राकट्य होता है, तथापि उनकी गति-विधियों

की भिन्नता के कारण उन्हीं गति-विधियों के अनुरूप उनका पृथक्-पृथक् नाम करण हुआ है।

जैसे सूर्य एक है, परन्तु उसकी विभिन्न किरणें अपने गुण, धर्म और शक्ति की भिन्नता के कारण एक्सरेज, अल्टावायलेट, अल्फा वायलेट आदि अनेक नामों से पुकारी जाती हैं. वैसे ही परमात्मा की विभिन्न शक्तियों या क्रिया-किरणों को विभिन्न देवी-देवता के नाम से पुकारते हैं। यह देवी-देवता अपने-अपने कार्य क्षेत्रों और अधिकारों के अनुसार कार्य करने में लगे रहते हैं।

पंचतत्व और उनसे सम्बन्धित देवता

शरीरों का निर्माण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूपी पंच तत्वों से हुआ है। परन्तु शरीर की स्थूलता में उन पंचभूतों का पंचीकरण सहायक होता है। क्योंकि अपंचीकृत भूत और उनके कार्य अन्तःकरण, कर्मेन्द्रिय को सूक्ष्म सृष्टि कहा गया है। सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान इन्द्रियों से होना असम्भव है। किन्तु नेत्र, नासकादि गोलक इन्द्रियों के बिषय हैं। उन गोलकों में स्थित इन्द्रिय किन्हीं इन्द्रियों के विषय नहीं होते।

पंचभूतों का पंचीकरण

सूक्ष्म सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् परमात्मा की इच्छा से स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति हुई, जिसके निमित्त उन भूतों का पंचीकरण हुआ, जो कि दो प्रकार का है। प्रथम प्रकार में एक-एक भूत के दो-दो समान भाग हुए और उनके एक-एक भाग के चार-चार भाग होगए। अर्थात् प्रत्येक भूत का आधा भाग पृथक् रहा और आधे भाग के चार-चार भाग करके प्रत्येक भाग प्रत्येक

भूत के आधे भाग में मिल गया। इस प्रकार बड़े भाग में अन्य भूत का छोटा भाग मिलने से पंचीकरण हुआ।

इसे स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझिये कि पंचीकरण में प्रत्येक भूत का अपना पचास प्रतिशत भाग रहा और शेष चार भूतों में से प्रत्येक का साढ़े बारह प्रतिशत भाग आ मिला। इस प्रकार पचास प्रतिशत भाग उन चार भूतों से प्राप्त होकर पूर्णता हुई।

ज्ञानी जनों ने इसका दूसरा प्रकार ऐसे बताया है कि एक-एक भूत के जो दो भाग हुए, वे सम न होकर एक भाग चार अंश का और एक भाग पाँच अंश का रहा। उनमें अधिक भाग यथावत रहा और छोटे अंश के पाँच भाग होकर एक-एक भाग प्रत्येक भूत में मिल गया। इस प्रकार प्रत्येक भूत के अपने-अपने अंश इक्कीस और दूसरे के चार अंश होते हैं। अथवा इसे इस प्रकार समझिये कि एक-एक भूत के पच्चीस भाग होते हैं, इक्कीस-इक्कीस भाग और चार-चार पृथक् हुए। उन चार-चार भागों में से एक-एक भाग अपने-अपने इक्कीस भाग को छोड़ कर दूसरों के भाग में जा मिले। इस प्रकार एक-एक भूत में पाँचों भूतों का समावेश होना हो पंचीकरण है।

पंचीकृत भूतों से स्थूल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

इन्द्रियों का विषय स्थूल ब्रह्माण्ड है, जिसके भीतर भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक, यह सात ऊपर के लोक और अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल यह सात नीचे के लोक हुए। इन चौदह लोकों में जीवन के भोग-योग्य अन्नादि और भोग के स्थान रूप

देवता, मनुष्य, पशु आदि स्थूल शरीर हुए। इस प्रकार सृष्टि का यह संक्षेप में निरूपण है।

शरीर में भूत विशेष का न्यूनाधिक्य

परन्तु, यह आवश्यक नहीं कि सभी शरीरों में पंचभूतों की स्थिति समान रूप से हो, वरन् किसी में किसी भूत विशेष की अधिकता और किसी भूत विशेष की न्यूनता हो सकती है। यदि पूर्ण रूप से समानता होती तो सभी के आकार-प्रकार और रूप-रंग आदि में कुछ भी अन्तर दिखाई न देता और उसके फलस्वरूप मनुष्यों की पृथक् पहिचान भी कठिन होजाती। इस प्रकार यह तथ्य मान्य किया गया कि विभिन्न शरीरों में पंचभूतों की न्यूनाधिकता तो है, परन्तु वह न्यूनाधिकता उस शरीर के अनुरूप ही होती है। यदि आवश्यकता से अधिक कमी-वेशी हो तो उसके फल स्वरूप शरीर में विकार उत्पन्न होजाते हैं।

पंचदेव पूजन

शरीर में जिस-जिस भूत की न्यूनता हो, उस-उस भूत के पोषित, प्रफुल्लित करने के लिए आचार्यों ने पंचदेव पूजन का विधान निश्चित किया। इसमें उन-उन भूतों के प्रतीक देवताओं का पूजन किया जाता है। पृथिवी तत्व की अपेक्षा से उसके प्रतीक गणेशजी की, जलतत्व की अपेक्षा से उसके प्रतीक भगवान् विष्णु की, अग्नि तत्व की अपेक्षा है तो भगवान् भास्कर की, वायु तत्व की अपेक्षा है तो शक्ति की और आकाश तत्व की अपेक्षा से शिवजी की पूजा करनी चाहिए।

इस प्रकार विभिन्न उद्देश्यों के लिए विभिन्न देवताओं के पूजन का विधान शास्त्रकारों ने बताया है। भागवतकार ने भी

अपने अनुभव के आधार पर यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस उद्देश्य से किस देवता का पूजन करना उचित है। उसका वर्णन इस प्रकार है—

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्॥
वसुकामो वसून्रुद्रान्वीर्य कामोऽथ वीर्यवान्॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान्देवान्राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान्स्त्रीकामोऽप्सर उर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत् परमेष्ठिनम्॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्या कामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थं उमां सतीम्॥
धर्मार्थं उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन्पितृन्यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥
राज्यकामो मनून्देवान्निर्ऋतिंत्वभिचरन्यजेत्।
कामकामो यजेन्सोममकामः पुरुषं परम्॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदार धीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

— भागवत २।२।२-१०

अर्थात्—जिसे ब्रह्म तेज की इच्छा हो उसे वेद विदति ब्रह्मा का पूजन करना चाहिए। इन्द्रियों की पुष्टि के लिए इन्द्र का, सन्तान की इच्छा से दक्ष प्रजापति का, लक्ष्मी (धन) के लिए दुर्गा देवी का, तेज के लिए अग्नि का, वैभव के लिए अष्टवसु का, वीर्य-वृद्धि के लिए रुद्र का, अन्न आदि की इच्छा से अदिति

का, स्वर्ग आदि की कामना हो तो द्वादश आदित्यों का, राज्य की इच्छा हो तो विश्वेदेवों का और लोकप्रियता के लिए साध्य-गण का पूजन करे। आयु-वृद्धि के लिए अश्विनीकुमार, पुष्टि के लिए पृथिवी, प्रतिष्ठा के लिए अन्तरिक्ष। अथवा पृथिवी और आकाश को पूजे। रूप की इच्छा से गन्धर्वों का, स्त्री की कामना से उर्वशी नाम की अप्सरा का, आधिपत्य के लिए पर मेष्ठी (ब्रह्मा) का, यश के लिए यज्ञ पुरुष का, धनकोश के लिए वरुण का, विद्या के लिए शिवजी का, दाम्पत्यप्रेम के लिए पार्वती का, धर्म और अर्थ के लिए भगवान् विष्णु का, परिवार-वृद्धि के लिए पितृगण का, रक्षा के लिए यज्ञों का, बल के लिए मरुद्गण का, राज्य के लिए मनुओं का, अभिचार के लिए मृत्यु का, भोगों के लिए चन्द्रमा का और निष्काम भाव हो तो परम पुरुष पर-मात्मा का पूजन करे। यदि किसी वस्तु की कामना नहीं है अथवा सभी भोगों की कामना और मोक्ष की भी इच्छा हो तो उसे उदार बुद्धि युक्त होकर प्रबल भक्तियोग के द्वारा परम पुरुष परमात्मा का ही पूजन करना चाहिए।

उपासना-भेद

इसी प्रदिपादन को उचित मान कर ऋषियों ने प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत शक्ति, सामर्थ्य और साधनों की उपलब्धता के अनुसार पांच प्रकार की उपासना का विधान किया। उनमें से जिसे जो सुगम और अनुकूल प्रतीत होती है, वह उसी के अनुसार करता है। वे पंचोपासना यह हैं—(१) भूत, प्रेत आदि की मान्यता और उपासना, (२) पितरों, देवताओं, ऋषियों की उपासना, (३) राम, कृष्ण, नृसिंह, वाराह, वामन आदि अव-

तारों की उपासना, (४) सगुण ब्रह्म की उपासना, और (५) निर्गुण ब्रह्म की उपासना।

उक्त पंच विधि उपासनाओं में प्रथम तो पूर्ण तामसी उपासना है, दो से चार तक की उपासनाएँ तामसी और राजसी हैं तथा पाँचवें प्रकार की उपासना सात्विकी मानी गई है। वैसे, यह सभी उपासनाएँ विभिन्न रूपों में प्रखरता को प्राप्त होती हुई परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होती हैं। शास्त्र भी इसी की पुष्टि करते हैं। यथा—

ब्रह्मा दक्षः कुबेर यमवरुणमरुद्वह्नि चन्द्रेन्द्र रुद्राः।
शैलानद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्व नागाः॥
द्वीपा नक्षत्र तारा रवि वसु मुनयोव्योमभूरश्विनौ च।
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु नः विश्वरूपः॥

अर्थात्—ब्रह्मा, दक्ष, कुबेर, यम, वरुण, मरुद्गण, अग्नि, चन्द्रमा, इन्द्र, रुद्र, पर्वत, नदी, समुद्र, ग्रह, मनुष्य, दैत्य, गन्धर्व, नाग, द्वीप, नक्षत्र, तारागण, सूर्य, वसु, मुनिगण, आकाश, पृथिवी, अश्विनीकुमार आदि सभी जिसमें लीन हैं, वे विश्वरूप परमात्मा रक्षा करें।

उक्त वर्णन यह सिद्ध करते हैं कि विभिन्न देवी-देवतादि की उपासना का अभिप्राय परमात्मा की उस शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करना है, जो कि साधक के अभीष्ट प्रयोजन से सम्बन्धित हो। इस प्रकार साधक अपनी आवश्यकता, आकांक्षा और साधनों की अनुकूलता के अनुसार समय-समय पर विभिन्न देवताओं की शरण में जाकर उनकी पूजा करने लगता है और यह देखा भी गया है कि उनकी उस उपासना में सच्ची लगन और भक्ति-भाव का समावेश होता है, तो इच्छित फल की प्राप्ति भी किसी न किसी अंश में हो ही जाती है।

विभिन्न देवताओं के पूजन और उनके लाभ

ऊपर बता चुके हैं कि प्रत्येक देवता में अपना कोई विशेष गुण होता है और जो लोग उस गुण की आकांक्षा करते हैं, वे उसी देवता का पूजन आदि करते हैं। नीचे कुछ ऐसे ही प्रसिद्ध देवताओं के पूजन और उनके द्वारा होने वाले लाभों पर प्रसंग-वश कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

गणपति की भक्ति और पूजा

गणपति उपनिषद् में गणेश-पूजन की बड़ी महिमा लिखी है। उसमें जिस गणेश-गायत्री का वर्णन हुआ है, वह इस प्रकार है—'ॐ गणपतये नमः। एकदन्ताय विद्‌महे वक्रतुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्।' इसके साथ चतुर्भुज, पाशांकुश-वर-अभय मुद्राधारे हुए, एक दाँत वाले, लम्बोदर, मूषकध्वज, रक्त-वर्ण, बड़े-बड़े कान, लाल वस्त्र, रक्तचन्दन चर्चित अंग, रक्त वर्ण के पुष्पों से विभूषित, भक्तों पर अनुकम्पा करने वाले, विश्व के कारणरूप, अविनाशी, सृष्टि के आदि में उत्पन्न तथा प्रकृति और पुरुष से परे, ऐसे गणेशजी का चिन्तन करने वाला मनुष्य योगियों (भक्तों) में श्रेष्ठ है।

'नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रथम पतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय वरदमूर्तये नमो नमः।' इस अथर्व शिरस् के पाठ से ब्रह्मत्व प्राप्ति का अधिकार मिलता है। उसके पाँचों प्रकार के पातक, उप पातक दूर होजाते हैं। सहस्रवार पाठ करने पर जो-जो अभिलाषा हो, वह-वह सिद्ध होजाती है। इसके द्वारा गणपति का अभिषेक करने वाला वक्ता बन जाता है। चतुर्थी तिथि को उपवास करके इसे जपने

वाला विद्यावान् होता है। इस मन्त्र के साथ तप-साधन करने वाले को कभी कोई भय नहीं होता।

यदि दूर्वा के अंकुरों से गणेश का यजन करे तो कुबेर के समान धनवान् होता है। लाजाओं के साथ यजन करे तो यशस्वी होता है और हजार मोदकों से यजन करे तो सभी इच्छित कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। घृत और समिधाओं से यज्ञ करने वाला पूर्ण काम हो जाता है। यदि इसे आठ ब्राह्मणों को ग्रहण करावे तो सूर्य के समान तेजस्विता की प्राप्ति होगी। सूर्य ग्रहण के समय किसी महानदी (गंगा, यमुना आदि) अथवा किसी देव-प्रतिमा के निकट बैठ कर जप करे तो मन्त्र-सिद्धि होती है तथा वह भक्त साधक घोर विघ्नों से भी छुटकारा प्राप्त कर लेता है। उसके भारी से भारी पाप भी दूर हो जाते हैं। जो इस प्रकार जानता है वह भी सर्व ज्ञानी हो जाता है।

इस प्रकार गणपति की पूजा, भक्ति और मन्त्र जाप आदि के द्वारा सब प्रकार की प्राप्ति हो सकती है। यदि निश्चल चित्त से गणपति में चित्त रखते हुए भक्ति-भाव पूर्वक उपासना की जाय तो मोक्ष की प्राप्ति अवश्य ही संभव है।

त्रिदेव और उनकी अभिन्नता

भगवान् एक है, परन्तु उसकी शक्तियाँ अनन्त होने के कारण विभिन्न रूपों का पूजन किया जाता है। अनेक आचार्यों की मान्यता रही है कि अव्यक्त, अगोचर, अव्यय एवं अजन्मा ब्रह्म समय-समय पर तीनों लोकों में आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहता है।

उन सभी रूपों में ईश्वरांश की न्यूनाधिकता का अनुमान उनकी शक्ति, सामर्थ्य से लगाया जाता है। जैसे कि रामावतार

को सोलह कला का और कृष्णावतार को चौबीस कला का बताया गया है। इस प्रकार जिस रूप में जैसी शक्ति होती है, उसमें उतनी ही कलाओं का होना मानते हैं।

परन्तु, उन देवताओं में जिन ब्रह्मा, विष्णु, और शिव को प्रमुख तीन देवता मान कर 'त्रिदेव' की संज्ञा दी गई है, उन तीनों देवताओं का अधिकांश ग्रंथ पूर्ण रूप से ऐक्य स्थापित करते हुए नितान्त अभिन्नता का प्रतिपादन करते हैं। शिवपुराण (२।१।६।२८) के अनुसार—

त्रिधाभिन्नोह्यहं विष्णो ब्रह्मा विष्णु हराख्यया।
सर्गरक्षालय गुणैः निष्कलोऽह सदा हरे॥

अर्थात्—सृष्टि के उत्पादन, पालन और संहार गुणों के कारण ब्रह्मा, विष्णु और शिव भेद से यह तीन रूप हुए, वस्तुतः मेरा स्वरूप सदा हा भेद-रहित है।

उक्त श्लोक ब्रह्म की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली शक्तियों की ओर स्पष्ट संकेत करता हुआ यह सिद्ध कर रहा है कि जो शक्ति या देवता संसार की रचना में नियुक्त है उसे ब्रह्मा, जो पालन-पोषण में नियुक्त है उसे विष्णु और जो संहार अथवा प्रलय करने में नियुक्त है वह शिव, रूद्ध, शंकर आदि नामों से सबोधित है। अथवा यह समझना चाहिए कि उस एक ही ब्रह्म के तीन नाम हुए—सर्ग-रजना करने के कारण उसे 'ब्रह्मा' कहा गया, स्थिति या पालन करने के कारण उसका नाम 'विष्णु' हुआ और प्रलयकर्त्ता होने के कारण ही उसकी संज्ञा 'शिव या रुद्र' हुई। ब्रह्म के इन तीन रूपों का विवेचन प्रसंगवश आवश्यक प्रतीत होता है।

ब्रह्मा या चतुरानन

ब्रह्माजी को चार मुखों से युक्त माना गया है, इसलिए उनका नाम चतुरानन भी हुआ। वे प्रजा की उत्पत्ति के कार्य

में लगे रहते हैं, इसलिए उन्हें प्रजापति कहा जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि से पूर्व आविर्भूत हुए और उन्हीं ने सृष्टि को उत्पन्न किया, इसलिये वे पितामह कहलाते हैं। श्रीमद्भागवत तृतीय स्कंध अष्टम अध्याय के अनुसार उनकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई है—

उदप्लुतं विश्वमिदं तदाऽऽसीयन्निद्रयाऽमालितदृङ् न्यमीलयत्।
अहीन्द्र तल्पेऽधिशयान् एकः कृतक्षणः स्वात्मरतो निरीहः॥
तस्याऽर्थ सूक्ष्माभिनिविष्ट दृष्टे रन्तर्गतोऽर्पो रजसा तनीयान्।
गुणेनकालानुगतेन विद्धः शुष्यंस्तदा भिद्यतनाभिदेशात्॥
स पद्मकोशैः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधनेन।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः॥
तल्लोक पद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविशत्सर्ग गुणावभासम्।
तस्मिन्स्वयं वेदमतो विधाता स्वयंभुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत्॥
तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायामवस्थितो लोकमवश्यमानः।
परिक्रमव्योम्नि निवृत्तनेत्रश्चत्वारिलेभेऽनुदिशं मुखानि॥

अर्थात्— जब महाप्रलय में यह जगत् नष्ट हो गया, तब एक श्री नारायण ने अपनी चैतन्य शक्ति को स्थित रखते हुए नेत्र बन्द कर लिये और वे अवकाश प्राप्त करके शेष-शय्या पर शयन करते हुए अपनी आत्म-रति में निमग्न रह कर चेष्टा-रहित हो गए। जिन प्रभु की दृष्टि सभी सूक्ष्म प्रयोजनों में सब ओर पहुँची हुई है, उनके भीतर जो प्रयोजन विद्यमान था, वह रजोगुण से सूक्ष्म होकर काल के अनुसार गुणों से चलायमान होता हुआ शुष्कता को प्राप्त हो गया, तब उनकी नाभि से कमल का प्राकट्य हुआ। कर्म का प्रतिबोध कराने वाले काल से वह सब का भंडार रूप कमल एक साथ उत्पन्न हुआ और वे स्वयं अपनी सूर्य के समान कान्ति से उस विशाल जल में प्रकाशित हुए। सभी गुणों का प्रकाश करने वाला वह विश्व-कमल हुआ, जिसमें भगवान् विष्णु ने प्रवेश किया और उसी में वेदमय ब्रह्मा

स्वयं उत्पन्न हुए, इसीलिए वे स्यवंभू कहलाते हैं। जब उस कमल की पंखुड़ियों पर विराजमान ब्रह्माजी को लोक दिखाई न दिये, तब वे आकाश में सब ओर नेत्र घुमाने लगे और तभी चारों दिशाओं को देखने के लिए उनके चार मुख होगए।

इस प्रकार ब्रह्मा को चतुर्मुख कहने का अभिप्राय यह हुआ कि वह सब ओर समान रूप से एक साथ ही देख सकते हैं। (चतसृषु दिक्षु मुखं यस्य स चतुर्मुखो) ब्रह्म सर्वज्ञ है, उसकी दृष्टि से कहीं, कुछ भी ओझल नहीं रह सकता।

श्वेताश्वरोपनिषद् ने ब्रह्म को सब ओर शिर, मुख और कण्ठ वाला कहा है—

सर्वानन शिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतःशिवः ।

अर्थात्—परमात्मा के मुख, शिर और ग्रीवा सब ओर हैं और वही सर्वव्यापी सब प्राणियों के हृदयों में स्थित रहता है। इस प्रकार वह सर्वगत और कल्याणकारी है।

जो लोग ब्रह्म को अव्यक्त ही मानते हैं, वे भी ब्रह्म के द्वारा होने वाले सर्ग, स्थिति और संहार को तो स्वीकार करते ही हैं। भागवत ने विराट पुरुष में सभी ईश्वरीय शक्तियों के प्रवेश का वर्ण किया है और ब्रह्मा का उसके उपस्थ में प्रवेश करना दिखाया है। यथा —

मेढ़ं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत्
रेतसांऽशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥

अर्थात्—उस विराट् पुरुष के उपस्थ उत्पन्न हुआ तो ब्रह्मा ने उसमें प्रवेश किया और तब वीर्य के अंश से आनन्द की उत्पत्ति हुई।

वेदादि आर्ष ग्रन्थों में 'ब्रह्मा' शब्द नहीं मिलता, तो भी जो महान् है वही ब्रह्मा कहा जा सकता है। वेदों में 'ब्रह्मन्'

शब्द का प्रयोग यत्र तत्र पाया जाता है जो कि उभय लिंग है। पुल्लिग में ब्रह्मा और नपुंसक लिंग में ब्रह्म बनता है। वस्तुतः ईश्वर के अर्थ में आने वाला शब्द ब्रह्म और ईश्वर से भिन्न अर्थ में ब्रह्मा शब्द का प्रयोग हुआ है।

तो, ब्रह्मा रूप से भगवान् सर्ग-रचना का कार्य करते हैं। कभी-कभी उन्हें अपने ही रचनाकार्यों पर सन्देह होने लगता है और वे ईश्वरीय माया में ऐसे भूल जाते हैं कि सामान्य मनुष्य के समान निर्णय नहीं ले पाते। हम पहले ही कह चुके हैं कि सभी देवता अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ही कार्य कर सकते हैं। ब्रह्माजी की शक्ति सर्ग-रचना कर सकती है तो सर्ग-रचना ही करेगी, वह विनाश-कार्य करने में असमर्थ है। जैसे कोई मन्त्री है तो कोई सेनापति उनमें से जिसका जो कार्य है, वह उसी कार्य को करेगा।

ब्रह्माजी भगवान् के आदेश से ही संसार की रचना करते हैं, इसलिए उनसे उच्च सत्ता भगवान् की ही हुई। भगवान् क्या करते हैं, इससे उन्हें क्या लेना-देना? और भगवान् जो कुछ करना चाहते हैं, उसमें किसी से परामर्श भी नहीं लेते। क्योंकि उनके कर्म सर्वोपरि होते हैं। क्योंकि उनको सर्वोच्च सत्ता है। उन्हें जब, जो कुछ भी करना आवश्यक होता है, तुरन्त कर डालते हैं।

ब्रज में ब्रह्मा को मोह

पुराणों के अनुसार भगवान् अपनी शक्तियों को सदैव कार्य-रत रखने के उद्देश्य से भी समय-समय पर अवतार लेकर उनकी परीक्षा लेते हैं। कृष्णावतार में उन्होंने ऐसा ही किया कि ब्रह्माजी की ही परीक्षा ले डाली। उनकी प्रेरणा से ब्रह्माजी की मति फिर गई और वे यह देखने के लिए कि ब्रज में क्या होरहा है, भगवान् के क्रीडास्थल पर आ पहुँचे तथा वहाँ ग्वाल-बाल

और गाय-बछड़ों के सहित बलराम-कृष्ण को देख कर भगवान् की असीम शक्ति को भी भूल गए और माया के वशीभूत होकर उन्होंने भगवान् की ही परीक्षा ले डाली।

ब्रह्माजी ने ग्वाल-बालकों और बछड़ों का हरण कर लिया, भगवान् ने यह देखा तो तुरन्त समझ गये कि 'बौरायौ यहि बूढ़ौ ब्रह्मा हरि लईं धेनु हमारी' और तब उन्होंने तुरन्त ही वहाँ उसी रूप-रंग के, संख्या में भी उतने ही ग्वाल-बाल और गोवत्स प्रकट कर दिये तथा—

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान्प्रतिवार्यात्मवत्स पैः।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम्॥

अर्थात्—स्वयं अपने ही अंगभूत बछड़ों और बालकों को घेर कर एवं साथ लेकर अपने ही रूप-विहारों से क्रीडा करते हुए सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण व्रज में प्रविष्ट हुए।

इस प्रकार भगवान् अपने ही अंगभूत उन गोवत्सों और गोप-बालकों के साथ नित्य-प्रति बन में जाते और सायं-काल लौटते यह कार्य एक वर्ष तक इसी प्रकार होता रहा, परन्तु कोई रहस्य को न जान सका। उस एक वर्ष के व्यतीत होने के समय में ब्रह्मा जी का तो एक ही पल व्यतीत हुआ था। जब उन्होंने आकर देखा कि यहाँ तो सभी बछड़े और बालक पूर्ववत् क्रीडा कर रहे हैं तो वे बड़े चकित हुए और सोचने लगे कि 'यह क्या माया है?'

अभी ब्रह्माजी इतना ही सोच पाये थे कि वे देखते हैं कि सभी बछड़े और बालक मेघ के समान श्याम वर्ण, पीताम्बर धारण किये हुए, चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी, किरीट, कुण्डल, वनमाल आदि से सुशोभित एवं श्रीवत्स की प्रभा से प्रकाशित हो रहे हैं और उन सबकी पृथक्-पृथक् ब्रह्माजी से तृण-

पर्यन्त समस्त स्थावर जंगम प्राणी प्रत्यक्ष शरीर धारण कर उनके पूजन में व्यस्त हो रहे हैं। उन सबके चारों ओर अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ, माया आदि विभूतियाँ और महत्तत्व आदि चौबीसों तत्व पृथक्-पृथक् स्थित हैं। काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म और गुण आदि सभी पदार्थ मूर्तिमान होकर प्रत्येक की अलग-अलग सेवा करते थे और उन सभी की स्वतन्त्रता उस समय नष्ट हुई प्रतीत होती थी।

सत्य, ज्ञान, रूप, अनन्त आनन्द, एक रस मूर्ति वाले आत्मज्ञानी महात्मा आदि भी उनके ध्यान में मग्न हुए दिखाई दिये। इस प्रकार ब्रह्माजी ने एक साथ ही सब गोवत्सों और गोप-बालकों के रूप में परब्रह्म परमात्मा के ही दर्शन किये। तब तो—

ततोऽति कुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः।
तद्धाम्नाऽऽभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ।।

अर्थात्—उक्त दृश्य देखते ही ब्रह्माजी की सभी इन्द्रियाँ अत्यन्त आश्चर्य के साथ शिथिल पड़ गईं और उनके तेज के समक्ष वे स्तम्भित खड़े रहे, जैसे कि ग्राम-रक्षिका पुतली चतुर्मुखी स्वर्ण प्रतिमा के समक्ष खड़ी रहती है।

उस समय ब्रह्माजी इतने मोहित होगए थे कि उनमें उस दृश्य को देखने की शक्ति भी शेष नहीं रही थी। उनकी ऐसी अवस्था देख कर भगवान् ने कृपा पूर्वक उनकी बुद्धि से माया का आवरण हटा लिया। तब जैसे कोई मर कर जी उठा हो, वैसे ब्रह्माजी की इन्द्रियों में चैतन्यता आई और वे अपने नेत्र खोल कर संसार में चारों ओर देखने लगे—

आँखिन खोलि लख्यौ वृन्दावन
सिंह धेनु सँग पीवत पानी।

कैसे खेल खिलावत जीवन
सो हरि-माया विधिहु न जानी ॥

और अब तो ब्रह्माजी पूर्ण चैतन्य थे, उन्हें घोर आश्चर्य के साथ अपनी ही बुद्धि पर खेद हो रहा था। वे तुरन्त ही अपने वाहन हंस से उतर कर स्वर्ण दण्ड के समान प्रभु-चरणों में गिर पड़े और प्रेमाश्रुओं के जल से उन चरणों पर ही अभिषेक करने लगे। तत्पश्चात् धीरे-धीरे उठ कर शिर झुकाये हुए ही भक्ति भाव पूर्वक स्तुति करने लगे—

क्वाहं तमोमहदहंखचिराग्निवार्भू
संवेष्टिताण्ड घटसप्त वितस्तिकायः।
क्वैदृग्विधाऽविगणिताण्डपराणुचर्या
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥

अर्थात्—हे प्रभो ! मैं प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी से घिरे हुए ब्रह्माण्ड में केवल अपने चौरासी अंगुल प्रमाण शरीर का ही हूँ। जबकि आपके रोम-कूपों में ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड स्थित होरहे हैं तो भला मेरी और आपकी समता ही कैसे हो सकती है ? अतएव आप मुझे तुच्छ जान कर मुझ पर कृपा कीजिए।

इस प्रकार उन अच्युत ब्रह्म की माया में पड़ कर भ्रमित हुए ब्रह्माजी भगवान् की स्तुति करके और उनसे क्षमा माँग कर अपने लोक को गए। इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म की अपेक्षा ब्रह्माजी में अल्प शक्ति है और उनकी नियुक्ति जिस कार्य के लिये है, वे उतना ही कार्य कर सकते हैं।

ब्रह्मा के पूजन का निषेध—एक भ्रान्ति

कुछ आचार्यों ने ब्रह्मा के पूजन का निषेध किया है और उसका कारण यह बताया है कि उन्होंने अपनी ही पुत्री को

कुदृष्टि से देखा था। परन्तु ब्रह्मा द्वारा अपनी पुत्री पर कुदृष्टि डालने वाला पौराणिक प्रसंग एक भ्रान्ति मात्र है। काव्यकारों के शब्दों में कहीं-कहीं दो अर्थ निकलने की भ्रान्ति होने लगती है। श्रीमद्भागवत (३।१२।२७) के अनुसार—

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
अकामां चक्रमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥

सामान्यतः इसका यह अर्थ किया जाता है कि 'ब्रह्माजी की सुन्दर पुत्री वाणी ने उनका मन हर लिया और तब उसकी अनिच्छा होते हुए भी ब्रह्माजी इच्छावान् हुए-ऐसा सुना जाता है।'

भागवत में ही 'आस्याद्वाक्' कह कर वाणी की उत्पत्ति ब्रह्माजी के मुख से मानी गई है। परन्तु तृतीय स्कन्ध के छठे अध्याय में विराट् पुरुष के मुख में लोकपाल अग्नि का प्रविष्ट होना कह कर 'वाचा स्वांशेन वक्तव्यं' से वाणी के द्वारा विराट् पुरुष में कहने की सामर्थ्य का उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है।

यदि पुराणकारों के मत में ब्रह्माजी शरीरधारी हैं तो उक्त प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि मुख से निकलने वाली वाणी उनके शरीर का एक अंग ही हो सकती है, वह कोई पृथक् शरीर नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्माजी यदि अपनी वक्तृत्व शक्ति बढ़ाने के लिए वाणी से प्रेम करने लगें तो उसका अर्थ कुवासना तो नहीं हो सकता।

भागवत के उक्त श्लोक में 'अकामां' से वाणी की 'अनिच्छा' का जो अर्थ लगाया जाता है, वह भी एक भ्रान्ति मात्र ही है। अकाम का अर्थ कामना-रहित या क्रिया-रहित भी है। वाणी बिना प्रेरणा के क्रियाशील नहीं होती उसे बोलने में प्रयुक्त करने के लिए शरीरधारी को इच्छा करनी ही होगी। जब तक वह

कुछ बोलने की इच्छा न करेगा तब तक वाणी निष्क्रिय और मौन ही पड़ी रहेगी।

इस प्रकार 'अकामां चक्रमे क्षत्त: सकाम' का अर्थ निष्क्रिय पड़ी हुई वाणी को बोलने योग्य बनाना ही सिद्ध होता है। यदि कोई कहे कि 'तन्वी' शब्द का प्रयोग तो किसी स्त्री के लिए ही हो सकता है तो हम पूछेंगे कि वक्तृत्व शक्ति के प्रति क्यों नहीं हो सकता ? स्त्री-लिंग वाली सभी वस्तुए यदि 'तन्वी' शब्द के अनुरूप हैं तो उनके लिए वैसा कह सकते हैं।

आप यह भी कह सकते हैं कि भागवत के तृतीय स्कन्ध, अध्याय बारह के श्लोक २८ से ३२ ब्रह्माजी की अनुचित इच्छा को व्यक्त करते हैं, जिनका भावार्थ है कि मुनि-प्रमुख मरीचि ने उनसे कहा कि 'हे प्रभो ! आप पुत्री-गमन की इच्छा करते हो। इस कार्य को न तो पहले किसी ने किया, न भविष्य में ही कोई करेगा। आप समर्थ हैं, निग्रह कीजिए. यह कर्म लोक को कल्याण मार्ग पर चलाने वाले तेजस्वी पुरुषों के योग्य नहीं है। जिन्होंने इस विश्व को आत्मा में स्थित किया है वे धर्म-रक्षा में समर्थ हैं, उन प्रभु को नमस्कार है। इस प्रकार की स्तुति सुनकर लज्जित हुए ब्रह्माजी ने शरीर को त्याग दिया।

इसी प्रसंग में वर्णित चौबीसवें श्लोक की ओर ध्यान दें—'अधर्म पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोक भयंकर:' अर्थात् 'पीठ से अधर्म हुआ, जिससे लोकों में भय उत्पन्न करने वाली मृत्यु उत्पन्न हुई।' और उसके बाद ही वाणी की उत्पत्ति हुई, जिसके द्वारा वे अधर्म पर भी प्रकाश डालना चाहते होंगे। परन्तु उनके पुत्रों ने यही निवेदन किया होगा कि अधर्म पर प्रकाश डालने से लोक-कल्याण नहीं हो सकता।

अब शरीर-त्याग का अर्थ यह समझना चाहिए कि वे अधर्म-मयी-वाणी से निवृत्त होगए और 'कदाचिद् ध्यायत: स्रष्टुर्वेदा

आसंश्चतुर्मुखात्' अर्थात् 'उन्होंने विचार पूर्वक अपने चारों मुखों से वेद उत्पन्न किये।' इस प्रकार के रूपक से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्माजी ने वाणी को श्रेष्ठ धर्म के प्राण रूप वेदों के सृजन में प्रयुक्त किया। 'आत्मस्थं व्यंजयामास' (३।१२।३१) से स्पष्ट है कि जो विश्व को अपने में स्थित रखने में समर्थ है उसके लिए तो न कुछ 'अकाम' है और कुछ 'सकाम' ही है। सामवेद (६।४।४) का कथन है—

त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः।
तथा विषाङ्. व्यक्रामदशनानशने अभि॥

अर्थात्—वही त्रिपाद पुरुष संसार के गुण दोषों से पृथक् रहकर अपने एक पद को बार-बार प्रकट करता है और फिर अनेक रूप से व्याप्त होकर संसार में रम जाता है।

ब्रह्माजी की उत्पत्ति भी उसी विराट् पुरुष से हुई है, जिससे भागवतकार वाणी की उत्पत्ति होना मानते हैं। मनुस्मृति (१।३३) में ब्रह्माजी स्वयं कहते हैं—

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥

अर्थात्—हे द्विजसत्तमो! उस विराट् पुरुष ने तप करके जिसे उत्पन्न किया, वह इस सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा मुझे ही समझिये।

ब्रह्म का स्फुरण करना वेदों को भी मान्य है और उसका वह स्फुरण ही विराट् पुरुष है। वही ब्रह्म की मात्रा है और उसी का असत् रूप माया है। अथर्ववेद के अनुसार—

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः। विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे स मे भव्यं वशे कृणोतु॥ (६।५।१०।२४)

अर्थात्—विराट् ही वाणी है, विराट् ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और प्रजापति है। वही मृत्यु और साध्यों का अधिपति है। भूत, भविष्यत् उसी के वश में हैं। इसलिए वह विराट् भूत, भविष्य को मेरे वशीभूत करे।

गायत्री रहस्योपनिषद् में सावित्री, गायत्री और सरस्वती को एक ही माना है। सरस्वती वाणी का पर्याय है, तो उसे गायत्री का पर्याय मानना भी उचित ही होगा। भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा, प्रणव, गायत्री आदि में स्वयं का अभेद बताते हुए भागवत में ही कहते हैं—

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिछन्दसामहम् ॥

अर्थात्—वेदविज्ञों में ब्रह्मा मैं हूं, मन्त्रों में प्रणव मैं हूं, अक्षरों में अकार और पदों में गायत्री छन्द मैं हूं।

इस प्रकार ब्रह्म, ब्रह्मा, विराट् पुरुष, वाणी आदि में पूर्ण रूप से अभिन्नता है। उनके प्रति अनाचरण की धारणा मिथ्या है। ब्रह्माजी चारों वेदों के सृजनकर्त्ता और वाणी के प्रेरणकर्त्ता हैं, इसलिए उनका इसी रूप में पूजन किया जाना चाहिए। साधकों को इनकी भक्ति से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होकर अन्त में मोक्ष मिलती है।

भगवान् विष्णु और वैष्णव धर्म

भगवान् विष्णु को त्रिदेवों में सर्व श्रेष्ठ देवता माना जाता है। भक्तों की मान्यता है कि ब्रह्मा और विष्णु में कोई भेद नहीं है, और वही समय-समय पर विभिन्न रूपों में अवतार धारण किया करते हैं। वामन, वराह, नृसिंह, राम, कृष्ण आदि के रूप में पृथिवी पर अवतीर्ण होने वाले भगवान् विष्णु ही हैं।

विष्णु-भक्तों से सम्बन्धित धर्म को वैष्णव धर्म कहते हैं। इस धर्म का भारत में तो प्रचुर प्रचार है ही, विदेशों में भी वैष्णव धर्म को बड़ा महत्व दिया जाता है। बाली द्वीप, कम्बोडिया, मलयेशिया, इंडोनेशिया, जावा, थाईलैण्ड, लंका आदि देशों में अन्य धर्मों का प्रचार होते हुए भी वैष्णव धर्म का प्रचार कम नहीं है। वहां भगवान् विष्णु को परमात्मा मान कर ही पूजा की जाती है। उक्त देशों में से कुछ में तो यवनराज्य होते हुए भी वैष्णव धर्म के प्रति बहुत श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित की जाती है।

उक्त देशों में विष्णु के अवतार रूप राम, कृष्ण आदि की पूजा को भी कम महत्व नहीं दिया जाता। इनमें से कुछ में रामायण और महाभारत आदि की कथाएँ भी श्रद्धापूर्वक सुनी जाती हैं। कुछ देशों में विष्णु-मन्दिर भी पाये जाते हैं। वर्मा, थाइलैंड आदि में तो बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार होते हुए भी वैष्णव धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा देखी जाती है।

भगवान् विष्णु के तीन पद

भगवान् विष्णु का वर्णन पुराणों आदि में ही नहीं, संसार के सब से प्राचीन महा ग्रन्थ वेद में भी यत्रतत्र पाया जाता है। ऋग्वेद का कथन है—

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्। विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्ये युज्यः सखा (१।२२।१८-१९) अर्थात् 'सब के रक्षक तथा किसी से भी धोखा न खाने वाले नियम-पालक विष्णु ने तीन पैर रखे। विष्णु के पराक्रम को देखो, जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं। वे (विष्णु) इन्द्र के साथी एवं मित्र हैं।

वामनावतार की कथा

'त्रीणि पदा वि चक्रमे' से वामन अवतार का स्पष्ट वर्णन है। भागवत के अनुसार भगवान् विष्णु ने वामन रूप बना कर दैत्य-राज बलि से केवल तीन पैर पृथिवी की याचना की, जिसे सुन कर बलि ने कहा कि मुझ जैसे लोकेश्वर से केवल तीन पैर पृथिवी माँगते हो, यह तो तुम्हारी मूर्खता है, इसलिए जितनी पृथिवी लेने से तुम्हारी जीविका चल सकती हो, उतनी अधिक पृथिवी माँग लो। इस पर वामन भगवान् ने कहा—

त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते।
नववर्ष समेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया।।

अर्थात्—जो तीन डग पृथिवी प्राप्त करके सन्तुष्ट नहीं हो सकता वह द्वीप पाकर भी क्या सन्तुष्ट हो सकेगा ? क्योंकि द्वीप मिलने पर सप्त द्वीपों के सहित नवों खण्ड प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होजायगी।

तदनन्तर दैत्यराज बलि जैसे ही तीन डग पृथिवी देने को हुए, वैसे ही उनके पुरोहित शुक्राचार्य जी ने उन्हें बताया—'हे बलि ! यह अव्यय स्वरूप भगवान् विष्णु हैं, जिन्होंने देवताओं की कार्य सिद्धि के लिए कश्यप पत्नि अदिति के उदर से अवतार लिया है। यह तेरा स्थान, तेज, धन, यश, ऐश्वर्यादि सभी कुछ इन्द्र को दे देंगे। जब यह विश्वरूप तीन डगों में ही तीनों लोकों को नाप लेंगे तब तेरी क्या गति होगी ?'

देवताओं के वैरी बलि भी परम धर्मज्ञ और भगवान् के भक्त थे। उन्होंने शुक्राचार्य द्वारा दी गई चेतावनी की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया, बोले—'विप्रर्षे ! युद्ध से मुख न मोड़ कर प्राण त्यागने वाले तो बहुत हैं, परन्तु सुपात्र के मिलने पर भी उसे

श्रद्धा पूर्वक दान देने वाले बहुत ही थोड़े हैं। अब यह चाहे विष्णु हों या कोई और मैं इन्हें मनोवांछित पृथिवी अवश्य दूँगा।' यह सुन कर रुष्ट हुए शुक्राचार्य ने उन्हें शाप दे दिया- अरे दुष्ट ! तूने मेरा कथन नहीं माना इसलिए तू शीघ्र ही राज्य लक्ष्मी से भ्रष्ट हो जा।'

शुक्राचार्य द्वारा शाप दिये जाने पर भी दैत्यराज बलि सत्य से विचलित नहीं हुए और उन्होंने तीन डग भूमि देने का संकल्प लिया, तभी भगवान् वामनजी का वह त्रिगुणात्मक शरीर इस प्रकार बढ़ने लगा कि उसमें पृथिवी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषिगण समाते चले जा रहे थे। तब भगवान् के उस शरीर में समस्त संसार दिखाई देने लगा।

इस प्रकार भगवान् के उस विराट् रूप को देख कर सभी दैत्य मोहित हो गए। उन्होंने अपने एक डग में सम्पूर्ण पृथिवी नाप ली तथा आकाश और दिशाओं को दूसरे डग में नापा। अब तीसरे डग के लिए उसके पास कुछ भी शेष न रहा और भगवान् का चरण ऊँचा उठते-उठते महर्लोक, जनलोक और तपलोकसे भी ऊपर चला गया। फिर उस चरणके सत्यलोक में पहुँचने पर ब्रह्माजी ने अपने कमण्डलु के जल से उनके चरण धोये। वह जल त्रैलोक्य को पवित्र करने वाली 'गंगाजी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने भगवान् से प्रार्थना की कि राजा बलि को अब छोड़ देने की कृपा करिये'। इस पर भगवान् ने कहा—

ब्रह्मन्यमनुगृह्णामितद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मद: पुरुष: स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ।।

अर्थात्—हे ब्रह्मन् ! मैं जिस पर कृपा करता हूं, उसके धन को सबसे पहले नष्ट कर देता हूं। क्योंकि धन के मद में मत्त

हुआ मनुष्य मेरे लोक को प्राप्त नहीं कर सकता और वह मेरे भक्तों की अवज्ञा भी करने लगता है।

'यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन्निज कर्मभिः' इत्यादि (भागवत) के अनुसार—यह पराधीन जीव अपने कर्मों के कारण विभिन्न योनियों में भटकता हुआ, बड़ी कठिनता से कभी ही मनुष्य शरीर पा जाता है। इसलिए यदि इस मनुष्य योनि में जन्म, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, प्रभुता और धन आदि का अभिमान न हो तो यह मेरा अनुग्रह ही समझना चाहिए। जो मेरे भक्त हैं, वे रूप, देह आदि को प्राप्त करके अभिमान नहीं करते और उन्हें कल्याण का विरोधी मान कर उनमें मोहित नहीं होते।

यह दैत्यराज बलि सब दैत्यों में श्रेष्ठ हैं। इसने मेरी अजेय माया को जीत लिया है। यह बड़े से बड़े दुःख से भी नहीं घबराया और गुरु के द्वारा शाप दे डालने पर भी अपने प्रण से विचलित नहीं हुआ, इसलिए यह मेरे उस पद को प्राप्त हो चुका है, जोकि देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।

भगवान् विष्णु के पद-निक्षेप की पुष्टि यजुर्वेद के निम्न उद्धरण से भी होती है कि 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' अर्थात् 'सर्व व्यापक विष्णु ने इस चराचर विश्व को विभक्त कर पहला पृथिवी में दूसरा अन्तरिक्ष में और तीसरा स्वर्ग में पद-निक्षेप किया है। इस प्रकार विष्णु के पद में विश्व अन्तर्भूत है।'

'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजाꣳसि। योऽअस्कभायदुत्तरꣳ सदस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा।' (यजुः ५।१८) अर्थात् 'भगवान् विष्णु के किन पराक्रमों का वर्णन करूँ? उनकी महिमा अपरिमित है। उन्होंने पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग एवं सब प्राणियों और परमाणुओं की रचना की है। वे तीनों लोकों में अग्नि, वायु और

सूर्य रूप से विद्यमान होकर श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा स्तुत हैं। उन्हीं ने स्वर्ग लोक को उच्च स्थान में स्तम्भित किया है। हे स्थूल काष्ठ में भगवान् विष्णु की प्रीति के निमित्त तुम्हारा आरोपण करता हूं।'

तीन गुण और तीन देवता

विष्णु पुराण में भगवान् विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा गया है—'भगवान् विष्णु रजोगुण के आश्रय से ब्रह्मा होकर इस संसार की रचना में प्रवृत्त होते हैं और रचना होने पर वही अतुलित पराक्रमी भगवान् विष्णु कल्पान्त पर्यन्त युग-युग में पालन करते हैं। फिर कल्प का अन्त होने पर अति दारुण तमोगुणी रुद्र रूप धारण कर सभी भूतों को उदरस्थ कर संसार को जलमय करके शेष शय्या पर शयन करते हैं। फिर जग कर ब्रह्मा रूप होकर वे पुनः संसार की रचना में लग जाते हैं।

नारद पुराण में नारदजी स्वयं उनकी स्तुति करते हैं—पुण्डरीकाक्ष ! हे विश्वभावन ! हे हृषीकेश ! हे सब के पूर्वज ! आपको नमस्कार है। जिनके परम भाव को ब्रह्मादि भी नहीं जानते और योगीजन भी जिनके दर्शन में असमर्थ रहते हैं, उन ज्ञान स्वरूप भगवान् विष्णु को नमस्कार है। अन्तरिक्ष जिनकी नाभि द्यौलोक जिनका मस्तक, पृथिवी जिनका चरण, सभी दिशाएँ कान और सूर्य-चन्द्र नेत्र हैं। ऋक्-साम-यजुः का जिनसे प्राकट्य हुआ है, पृथिवी, पंचभूत, तन्मात्राएं, इन्द्रियां एवं सभी स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ जिनसे अस्तित्व लाभ करते हैं, उन सर्व व्यापक विष्णु को नमस्कार है।'

नारायणात्मक सर्ग

स्कन्द पुराण का कथन है—'भगवान् विष्णु सम्पूर्ण शक्तियों के आश्रय स्थान हैं। ये सभी गुणों के निधान और सम्पूर्ण चरा-

चर विश्व के ईश्वर हैं। वे निर्गुण, निष्कल और अनन्त हैं तथा सत्, चित्, आनन्द उनका स्वरूप है। जिनसे उत्पत्ति, पालन संहार. पुनरावृत्ति, नियमन, प्रकाश, बन्धन मोक्ष, जीविका आदि की प्रवृत्ति होती है, वे ही भगवान् विष्णु ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध हैं। वे ही सर्व व्यापी परमेश्वर ज्ञानी जनों द्वारा साक्षात् परब्रह्म कहे जाते हैं। वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण, इतिहास, पाञ्चरात्र एव महाभारत सभी विष्णु स्वरूप तथा विष्णु के ही प्रतिपादक हैं।

पद्म पुराण के अनुसार—'मन से होने वाले सभी संकल्प विकल्प, चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने वाले सभी विषय और बुद्धि के द्वारा होने वाली सभी वस्तुओं का भाव, देश, काल एवं आकाश के रूप में (जहाँ जो कुछ भी है वह सब) विष्णु का ही स्वरूप है।'

भागवत ने भगवान् विष्णु के विषय में निम्न प्रतिपादन किया है—

एतद्वै पोरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः।
नाभिः सूर्योक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिश. प्रभोः।
प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः।
तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवौ यमः॥

—भागवत १२।११।६७

अर्थात्—यह भगवान का ही पुरुष रूप है, जिसके चरण पृथिवी, मस्तक स्वर्ग, नाभि अन्तरिक्ष, नेत्र सूर्य, नासिका वायु, कान दिशाएँ, उपस्थ प्रजापति, गुण मृत्यु, भुजाएँ लोकपाल, मन चन्द्रमा तथा भौंहें यमराज हैं।

उपनिषदों ने भी भगवान् विष्णु को ही परमात्मा मान कर उनके पराक्रम का वर्णन किया है—'नारायणाद् ब्रह्मा जायते, नारायणाद् रुद्रोजायतेनारायणादिन्द्रो जायते,नारायणात्प्रजापतिः

प्रजायते, नारायणा-द्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणदेव समुत्पद्यन्ते नारायणात्प्रवर्तन्त, नारायणे प्रलीयन्ते, एतदृग्वेदशिरोऽधीते ।' (नारायणोपनिषद्)

अर्थात्—नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न हुए, नारायण से ही रुद्र, इन्द्र, प्रजापति, द्वादश आदित्य, रुद्र, अष्ट वसु और सब प्रकार के छन्द उत्पन्न हुए। यह सभी नारायण से उत्पन्न होते, नारायण के द्वारा ही प्रवर्तन को प्राप्त होते और नारायण में ही लय हो जाते हैं। विद्वजन ही इस ऋग्वेद के शिरो भाग्य का अध्ययन करते हैं।

नृसिंह महिमा

नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् में देवगण प्रश्न करते हैं कि भगवान् नृसिंह को महाविष्णु क्यों कहा जाता है ? तो ब्रह्माजी कहते हैं—'भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से सभी देवताओं, सभी आत्माओं सभी भूतों और सभी लोकों को व्याप्त करते हैं। वे माँस पिण्ड में चिकनाई के समान शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त हैं। यह संसार प्रलयकाल में उन्हीं में लय होजाता है।'

श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढ तद्ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम्' इत्यादि कह कर भगवान् विष्णु की ही सामर्थ्य का वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार प्रतिपादन हुआ है कि 'जिस परमात्मा का अस्तित्व वेदों और रहस्यभूत उपनिषदों में विद्यमान है, उस ब्रह्मयोनि (विष्णु) को ब्रह्माजी जानते हैं। जो देवगण और ऋषिगण उस परमात्मा के ज्ञाता थे, वे उसी में लीन होकर अमर होगए।'

मुद्गलोपनिषद् में पुरुष संहिता की व्याख्या करते हुए 'सहस्रशीर्षा इत्यत्र सशब्दोऽनन्तवाचक' इत्यादि से कहा गया है कि

'सहस्रशीर्षा' और 'दशांगुलम्' पद अनन्त के वाचक हैं। दूसरे मन्त्र में भगवान् विष्णु को सर्वकाल व्यापी और तीसरे मन्त्र में मोक्ष के देने वाले कहा है। इसमें उनके वैभव का भी वर्णन है।

यज्ञस्तोम निरूपण

महोपनिषद् के अनुसार—'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मानेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः, स एकाकी न रमेत, तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते' अर्थात् 'आदि में केवल एक नारायण ही थे, ब्रह्मा, रुद्र, जल, अग्नि, सोम, आकाश, पृथिवी, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा (आदि) कुछ भी नहीं था, तब नारायण को अकेले रहना अच्छा न लगा और उन्होंने अन्तस्थ संकल्प रूपी जो ध्यान किया, वही ध्यान यज्ञस्तोम कहलाता है।

भगवान् विष्णु का 'त्रिविक्रम' नाम बहुत प्रसिद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जब देवताओं और दैत्यों में लोक के विभजन पर संघर्ष हुआ, तब दैत्यों ने निश्चय किया कि देवताओं को उतनी ही भूमि पर अधिकार करने दिया जायगा, जितनी कि भगवान् विष्णु अपनी तीन पगों में नाप सकें। परन्तु भगवान् विष्णु ने अपने तीन पगों में ही सम्पूर्ण लोक, वेद और वाणी को नाप लिया। इससे देवता सम्पूर्ण भूमि का निष्कंटक राज्य प्राप्त कर सके।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'विष्णु ही यज्ञ है। यज्ञ प्रथम पाद से पृथिवी का, द्वितीय पाद से अन्तरिक्ष का और तृतीय पाद से आकाश का अतिक्रमण कर लेता है।' इस प्रकार यज्ञ के द्वारा समस्त सृष्टि बँध जाती है। और यज्ञ भगवान् विष्णु का ही रूप है।

सन्त कवियों की वाणी

सन्तों और कवियों ने भी भगवान् विष्णु के विषय में बहुत कुछ कहा है। वैष्णव धर्म के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य मत के मानने वालों ने भी विष्णु की महिमा का वर्णन किया है। गुरु नानक कहते हैं—

असुर संहारण रामु हमारा।
घटि घटि रमइया राम पियारा॥

गुरु ग्रन्थ साहब में संग्रह किये गए एक पद में उसके रचयिता नारायण के निन्दक को मूर्ख मानते हैं। उनके मत में भला और बुरा जो कुछ भी करता है, सब नारायण ही करता है। न जानें कितने पापियों का उद्धार कर दिया उन्होंने—

नारायण निसि काइ भूली गवारी। दुक्रतु सुक्रतु भारी करनुरी॥
अनेक पातक हरता त्रिभुवणनाथ री॥

गुरु ग्रन्थ साहब में ही संग्रहीत एक पद के अनुसार यह मान्यता है कि सत्ययुग में विष्णु ने वामन का रूप रख कर बालि को छल लिया, त्रेता युग में रघुवश में उत्पन्न होकर वे राम कहलाये, द्वापर में कृष्ण मुरारी रूप से कंस को मार कर उग्रसेन को राज्य प्राप्त कराया तथा कलियुग में वे गुरु नानक, गुरु अंगददेव और गुरु अमरदास के रूप में प्रकट हुए—

सतिजुगि तै माणिओ छलियो बलि वावन भाइओ।
तवै तै माणिओ राम रघुवंसु कहाइओ॥
दुअपरि कृसन मुरारि कस किरतारथु कीओ।
उग्रसैण कइ राजु, अभै भगतह जन दीओ॥
कलिजुग प्रमाणु नानक गुरु अंगद अमरु कहाइआ।

गुरु अर्जुनदेव ने भगवान् विष्णु के विविध अवतारों का वर्णन करते हुए नृसिंह, वाराह, वामन, श्रीरंग, मत्स्य, कच्छप, कूर्म एवं केशव को उन्हीं भगवान का स्वरूप माना है—

धरणीधर ईस नरसिंघ नारायण, दाड़ा अग्रे प्रथमि धराइण ।
वावन रुपु कीआ तुधु करते समही सेती चंगा ।
श्री रंग वैकुण्ठ के वासी, मछु कछु कुरमु आगिआ अउतरासी ।
केशव चलत करहि निराले कीता लोढहि सा होइगा ।।

कबीर साहब ने भगवान् श्री नृसिंहदेवजी को सभो का मित्र कह कर पुकारा है । वे कहते हैं—

सर्व सखा को एक हरिस्वामी सो गुरु नाम दयो ।
सन्त प्रहलाद की पैज जिन राखी हरनासुख नख विदरयो ।।

सन्त रैदास भगवान् विष्णु को गजराज और गणिका का उद्धार करने वाला मानते हैं । उन्हें विश्वास है कि जब उन्होंने अपनी उदारता से ऐसे मतिहीनों का उद्धार कर दिया तो वे मुझे क्यों नहीं तार देंगे—

लाग बाकी कहाँ जाने, तीन लोक पवेत रे ।
अजा मिल गज गनिका तारी, तारी कुंजर की वासरे ।
ऐसे दुरमत मुक्त किये तो, क्यों न तरे रैदास रे ।।

उक्त उद्धरण बताते हैं कि निर्गुण उपासकों ने भी भगवान् विष्णु और उनके विभिन्न अवतारों के सगुण रूपों की महिमा गायी है । इस प्रकार सन्त साहित्य में भगवान् विष्णु का व्यापक रूप में समावेश है ।

जैन और बौद्ध मत में विष्णु का प्रति-पादन

जैन धर्म भी वैष्णव धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा । उनके ग्रंथों में भगवान् विष्णु और उनके अवतारों का उल्लेख यत्र तत्र मिलता है । पुष्पदन्त के महापुराणों में ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों की विष्णु से तद्‌रूपता प्रदर्शित की गई है । ऋषभदेव के विषय में महापुराण की मान्यता है कि 'वे वराह के रूप में

पृथिवी का उद्धार करते हैं' (१।१०।५।१०) 'वे गोवर्द्धन उठाने वाले हैं।' एक कथा में विजय और त्रिपुष्ट को नारायण, पुरुषोत्तम, धरणीधर आदि नामों से कहा गया है।

जब त्रिप्रष्ट अष्टग्रीव से युद्ध करना चाहते हैं, तब उन्हें देवियाँ कामोदिकी नाम की गदा, शारंगधनुष, पाञ्चजन्य शंख और कौस्तुभ मणि देती हैं। (५२।८।१५ एवं ५२।८।१-३) यह सभी विद्वान् विष्णु-भक्त जानते हैं कि यह सभी आयुध आदि भगवान् विष्णु के ही हैं। 'णयकुमार चरित्त' में विष्णु का वराह रूप धारण करना और पृथिवी का उद्धारक होना कहा गया है। वैष्णवों ने भगवान् विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन किया है, इसी प्रकार जैन मत चौबीस तीर्थंकर होना मानता है।

और बौद्ध मत में भी चौबीस बुद्धों का वर्णन मिलता है। 'घट जातक' में कृष्ण द्वारा कंस के मारने और द्वारका चले जाने का वर्णन मिलता है। 'कुणाल जातक' में कृष्ण के द्वारा द्रौपदी की रक्षा किया जाना उल्लिखित है। 'धर्म पूजा विधाने ने बुद्ध को महाविष्णु कहा गया है तथा 'शून्य पुराण' नामक ग्रंथ में बुद्ध को नारायण का अवतार माना गया है।

सेनर्ट और पुसिन की पुस्तक 'दी एज ऑफ इम्पीरियल यूनिट' में लिखा है कि भागवत धर्म और बौद्ध धर्म में बड़ी समानता है। महायान ग्रन्थों पर गीता का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। विष्णु की चरण-पूजा के समान ही बुद्ध के पद चिन्हों की पूजा प्रारम्भ हुई।

लंकावतार सूत्र में बुद्ध भगवान् की दिव्य वाणी का उल्लेख मिलता है। उसमें 'बुद्ध के हृदय में श्रीवत्स का सुशोभित होना कहा गया है। स्पष्ट है कि श्रीवत्स का चिन्ह भगवान् विष्णु के वक्षस्थल पर होना मानते हैं। इसी ग्रन्थ में बुद्ध ने सोम, सूर्य,

राम, व्यास, कपिल, इन्द्र आदि देवताओं के साथ विष्णु को भी अपना ही रूप कहा है।

विष्णु के विभिन्न रूप और पराक्रम

शतपथ ब्राह्मण में सोम को भी विष्णु कहा है। वैदिक काल में इस आनन्द दायिनी बूटी को निष्पन्न कर यज्ञ में आह्वान किये देवता को निवेदित किया जाता है। इसे विष्णु कहने का एक यह कारण प्रतीत होता है कि यदि यह अल्प मात्रा में भी शरीर में प्रविष्ट हो जाय तो यह शीघ्र ही सभी अंगों में व्यापक रूप से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। ऋग्वेद के अनुसार भगवान् सोम स्वर्ग और अन्तरिक्ष से पृथिवी के अंगों पर आता है तथा यह द्यौलोक का भी अमृत होने के कारण तीनों लोकों का पोषण करने में समर्थ है।

वेदों में विष्णु को ही अग्नि कहा गया है। ऋग्वेद (२।१।३) के अनुसार—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ?
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ।।

अर्थात्—हे अग्ने ! तुम इन्द्र हो और सज्जनों के मनोरथ पूर्ण करने वाले एवं बहुतों के द्वारा स्तुत्य- विष्णु हो, तुम ही ब्रह्मा तथा मन्त्रों के अधीश्वर एवं मन्त्रों के प्रेरणा में समर्थ हो।

वेदों में विष्णु को इन्द्र भी कहा है और अनेक स्थानों पर तो इन्द्र और विष्णु साथ-साथ भी पूजे जाते हैं। ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि 'हे इन्द्र और विष्णो ! संग्राम भूमि में आपके निमित्त स्तोत्र अर्पण किया है, आप हमारे अन्न की वृद्धि कीजिए अथवा 'जो श्रेष्ठ कर्मा विष्णु और इन्द्र की सेवा में तत्पर रहते हैं, वे तीनों लोकों के स्वामी यजमान को यज्ञ-फल का भागी बनाते हैं।

पद्म पुराण में विष्णु-भक्ति की महिमा का गान करते हुए भक्ति के तीन भेद किये गए हैं—(१) सात्विकी, (२) राजसी, और (३) तामसी, । इसमें सात्विकी भक्ति श्रेष्ठ, राजसी भक्ति मध्यम और तामसी भक्ति कनिष्ठ श्रेणी की मानी गई है। भगवान् विष्णु के चरणों की शरण में जाकर सर्वस्व समर्पण करना ही सर्वोत्तम सात्विकी भक्ति है। विषयों का प्रतिसन्धान करके जो पूजन किया जाता है, वह पृथक् भाव राजसी भक्ति है, इसमें चित्त की एकाग्रता नहीं बन पाती। तीसरे प्रकार की भक्ति दम्भ, मात्सर्य और माया से युक्त होती है इसमें साधक अपने स्वार्थ में तत्पर रहता हुआ भक्ति करता है यही तामस भक्ति है। परन्तु 'कर्मक्षयार्थे कर्त्तव्या ब्राह्मणैर्ज्ञानतत्परैः' अर्थात् 'ज्ञानी जनों को कर्मों का क्षय करने के लिए भगवान् नारायण की भक्ति करनी चाहिए।

नारायण की भक्ति और पूजा

भगवान् नारायण नित्य रूप हैं, वही सब दिशाओं में व्याप्त हैं। संसार में जितने भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, ये सब नारायण से ही उत्पन्न होते और उन्हीं में लीन हो जाते हैं। एक मात्र नारायण ही निष्कलंक, निरंजन निर्विकल्प, निराख्यात (वर्णन से परे) और शुद्ध देव हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। इस प्रकार जानने वाला भक्त स्वयं भी विष्णु के समान हो जाता है।

आरम्भ में 'ॐ' फिर 'नमः' और अन्त में नारायण का उच्चारण करे। 'ॐ' में एक, नमः में दो और नारायणेति' में पांच अक्षर हैं। इस प्रकार यह 'ॐ' नमो नारायणेति' मन्त्र आठ अक्षरों का है। इसका जप और ध्यान करने से मनुष्य अकाल मृत्यु से बच कर पूर्ण आयु प्राप्त करता है। उसे स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति और गऊ आदि पशुओं की प्राप्ति होती है और

अन्त में वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। यह मन्त्र वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति कराने वाला है।

इस मन्त्र का प्रातःकाल जप करने से रात्रि में किये हुए पाप और सायंकाल जप करने से दिन में किये हुए पाप दूर हो जाते हैं। मध्याह्न काल में सूर्य के सम्मुख बैठ कर जप करे तो सभी पापों और उपपापों से छुटकारा होता है। उस भक्त साधक को वेदों के पारायण का फल प्राप्त होकर नारायण का सायुज्य प्राप्त होता है।

यदि 'ॐ' रूप अकार, उकार और मकार का ही जप करले तो भी महान् उपलब्धि होती है। क्योंकि 'ॐ' आनन्द रूप और ब्रह्म पुरुष रूप है। इसका जप करने वाले भक्तजन संसार के सभी बन्धनों से छूट कर मुक्त हो जाते और फिर कभी जन्म धारण नहीं करते।

इस प्रकार भगवान् विष्णु की भक्ति से सम्पूर्ण देवताओं की भक्ति स्वतः हो जाती है। लोक में उनके दो अवतार बहुत प्रसिद्ध हैं राम और कृष्ण, इनका अर्चन भी देश-विदेश में व्यापक रूप से होता है। इसलिए यहां उनकी महिमा का वर्णन करना भी उचित होगा।

श्रीरामावतार

अयोध्या में महाराज दशरथ के यहाँ 'राम' रूप से भगवान् विष्णु ने अवतार लिया था। उनका चरित्र मानव जाति के लिए अनुकरणीय एवं आदर्श रहा, इसलिए उन्हें 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहा जाता है। 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि' अर्थात् 'जिस नित्य आनन्दरूप, चिन्मय और अनन्त ब्रह्म में योगीजन लीन रहते हैं, उन्हें 'राम' कहते हैं।' रामपूर्वतापिन्युपनिषत् में कहा है—

चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ ।
रघौः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ।।

अर्थात्—भगवान् विष्णु ने जब रघुवंशी महाराज दशरथ के यहाँ धरती पर जन्म लिया, तब उनका नाम 'राम' हुआ।

और लोक में अवतीर्ण होकर भी वे अपनी महिमा के अनुसार ही महिमावान् रहे, उनके रूप, गुण, पराक्रम आदि अद्वितीय एवं दिव्य थे। महर्षि वाल्मीकि का कथन है—

स हि रूपोपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः ।
भूयावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः ।।

अर्थात्—वे सौन्दर्य की प्रतिमा और महान् पराक्रमी हुए। उन्होंने किसी के दोषों के देखने की कभी चेष्टा नहीं की। संसार में उनका अनुपम व्यक्तित्व रहा। उनमें अपने पिता दशरथ के सभी गुण विद्यमान थे और इसीलिए उनकी ख्याति दशरथ के योग्यतम पुत्र के रूप में थी।

उनकी भक्ति किस प्रकार की जाय, इस पर गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग-रिस जीत ।
तुलसी सन्तन के मते इहै भगति की रीत ।।

इसमें रामोपासना के तीन लक्षण माने गए हैं। सच्ची भक्ति की रीति यही है कि भगवान् श्रीराम के प्रति प्रीति हो, सदा नीति-मार्ग पर चला जाय और राग-द्वेष को जीत लिया जाय।

सन्त दादू सन्तजनों में और भगवान् श्रीराम में कोई भेद नहीं मानते। उनके अनुसार—

जहां राम तह सन्त जन, जहाँ साधु तहँ राम ।
दादू दुन्नू एक हैं अरस परस विसराम ।।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की उपासना परम ब्रह्म परमात्मा विष्णु मान कर की जाती है। अन्य अनेक सन्तों और भक्त कवियों ने भी राम-भक्ति की अनन्यता से मुक्ति प्राप्ति का प्रतिपादन किया है।

श्रीकृष्णावतार

भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म मथुरा में कंस के कारागार में पड़े हुए वसुदेव-देवकी के पुत्र रूप में हुआ और गोकुल में नन्द-यशोदा ने उनका लालन-पालन किया। 'कृपार्थं सर्व भूतानां गोप्तारं च संस्थितः' (कृष्णोपनिषद्) अर्थात् भगवान् का श्रीकृष्ण रूप में अवतार सब प्राणियों पर अनुग्रह और धर्म की रक्षा करने के लिए हुआ।' गीता में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

पवित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

अर्थात्—सज्जनों के परित्राण और दुष्टों के विनाश कार्य की सम्पन्नता करके धर्म की स्थापना के उद्देश्य से मैं युग-युग में अवतार लेता हूं।

भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति भी देश-विदेश सर्वत्र व्यापक रूप से होती है। अमेरिका जैसे भौतिकवादी देश में भी हरि-गुण-गान और कीर्तनादि के द्वारा भक्ति का प्रसार बढ़ रहा है। भारत में भी अनेकों विदेशी भगवद्भक्ति और योग का अभ्यास करने के उद्देश्य से रहते हैं।

भक्त कवियों की कृष्णोपासना

श्रीकृष्ण-भक्ति के अनेक प्रकार हैं। कोई उनके बाल रूप की उपासना करता है, तो कोई उनके उस रूप की, जिसमें उन्होंने ब्रज बालाओं के साथ रास किया था, भक्ति करते हैं। कोई उनके वीरवेश को आराध्य मानते हैं, तो कोई शंख, चक्र,

गदा, पद्म युक्त (विष्णु-कृष्ण मिश्रित) वेश को ही सर्वोपरि समझते हैं।

व्रज के महान् भक्त कवि सूरदास उनके बालवेश के उपासक थे। उनका एक पद है—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुअन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।।
चारु कपोल लोल लोचन छवि गौरोचन कौ तिलक दिये।
लट लटकन मानो मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये।।
कठुला कण्ठ वज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये।
धन्य 'सूर' एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये।।

कृष्ण-भक्ति मीरा की अनन्यता प्रसिद्ध है। उसके काव्य में हृदय की जो अनुभूति भरी हुई है, वह उसकी उत्कट भक्ति को व्यक्त कर देती है—

पायो जी, मैंने नाम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो।
जनम जनम की पूँजी पाई जग में सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवे दिन दिन बढ़त सवायो।।
सत की नाव खेवटियाँ सतगुरु भवसागर तर आयो।
'मीरां' के प्रभु गिरधर नागर हरख हरख जस गायो।।

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्ण रूप से निर्लिप्त रहने का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषां चैव देहिनाम्।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देह भाक्।।

अर्थात्—गोपियों, उनके पतियों और विश्व के समस्त देह धारियों में आत्मरूप से व्याप्त होकर विचरण करने वाले भगवान् कृष्ण को किसी प्रकार के कर्म लिप्त नहीं करते।

भक्तियुग के सरस कवि रसखान ने श्रीकृष्ण-भक्ति में हृदय के जिस रस-सागर को उँडेला है, वह अद्वितीय है। मुसलमान होते हुए भी उनके काव्य में कृष्ण-भक्ति का अनुपम सन्देश भरा पड़ा है—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अभेद सुभेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचिहारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

इस प्रकार भक्त कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना में तन्मय रहते हुए जो काव्य-साधना की, वह श्रीकृष्ण के सर्व समर्थ और जगदीश्वर होने के प्रमाण रूप में ग्रहण किया जा सकता है। पुराणों में तो श्रीकृष्ण के पराक्रम के विषय में बहुत कुछ वर्णन मिलता है, जिसे विस्तार भय से दिया जाना सम्भव नहीं है।

भगवान् शकर

भगवान् शंकर को प्रलयकारी शक्ति मानते हैं। त्रिदेवों में से एक शिव ही ऐसे हैं जो सृष्टि का प्रलय काल में संहार करते हैं। इनका अद्भुत पराक्रम सर्वत्र विख्यात है। अनेक भक्तों की मान्यता है कि शिव और विष्णु में किंचित भेद नहीं है। 'शिवाय विष्णु रूपाय शिव रूपाय विष्णवे' अर्थात् 'शिव विष्णु रूप हैं और विष्णु शिव रूप हैं। ऋग्वेद में उन्हें 'त्र्यम्बक' नाम से सम्बोधन करते हुए कहा गया है—'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम् पुष्टिवर्द्धनम्' (ऋक् ७।५।१२)

भगवान् शिव के अनेक नाम हैं, उनमें 'भव' नाम भी प्रसिद्ध है। त्रिलोकी में जितने भी देवी-देवता हैं, वे सभी शिव के ही स्वरूप हैं, यह तथ्य महाभारत में स्पष्ट किया गया है—

ब्रह्माविष्णु सुरेन्द्राणां रुद्रादित्याश्विनामपि ।
विश्वेषामपि देवानां वपुर्धारयते भवः ।।

अर्थात्—भगवान् भव ही ब्रह्मा, विष्णु, देवराज इन्द्र, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार एवं विश्वेदेवाओं का शरीर धारण करते हैं।

भगवान् शंकर को न तो मिष्ठान्न प्रिय है और न वे कोई अधिक आडम्बर युक्त वेश ही पसन्द करते हैं। उन्हें शरीर पर भस्म रमाना, मृगचर्म धारण करना और सर्पों से शृंगार करना अच्छा लगता है। वे विजया के प्रेमी हैं, और स्वेच्छा से विष-पान भी कर लेते हैं। उनके इन कार्यों में लोकहित की भावना ही समाविष्ट है। नीलरुद्रोपनिषद् में उनकी उस भावना का स्पष्ट वर्णन हुआ है—

यः स्वजनान्नीलग्रीवो यः स्वजनान्हरिः ।
कल्माषपुच्छमोषधे जम्भयोताश्वरुन्धति।।

अर्थात्—हे औषधियो ! जो भगवान् विश्व के कल्याणार्थ विषपान करके नीलकण्ठ हो जाते हैं और जो अपने भक्तों का मंगल करने के लिए हरि (विष्णु) रूप धारण करते हैं, उन काली पुच्छ वाले केदारेश्वर प्रभु के लिए अमोघ शक्ति वाली होकर सन्तुष्ट करो।

सर्वदेवात्मक और सार्वभौमिक रुद्रोपासना

'सर्वदेवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः'(रुद्रहृदयोपनिषद्) अर्थात् 'भगवान् रुद्र सभी देवताओं में रमे हुए हैं तथा सभी देवता शिवात्मक हैं।'

शिवजी की पूजा का जितना प्रचार-प्रसार है, उतना विष्णु-पूजा का भी न रहा होगा। यही कारण है कि छोटे से छोटे

ग्राम में, यहाँ तक कि बीहड़ वन में भी शिव-लिंग अवश्य स्थापित मिलेगा। भारत से अन्यत्र भी अनेक देशों में शिव मन्दिर और उनकी प्रतिमा या लिंग मिलते हैं। अरब देश में बड़ी संख्या में शिवलिंग मिलते हैं। वे इतने भारी और वृहद् हैं कि उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना भी कठिन था, इसीलिए शिव की उपासना में कोई आस्था न रहने पर भी वे शिवलिंग आज भी यथावत् स्थापित हैं और उनका पूजन शिव-नाम से नहीं, वरन् अन्य नाम से होता है। कहते हैं कि मक्का शरीफ में हज पर जाने वाले सभी यात्री वहां के 'संग-ए-असबद' नामक शिवलिंग को श्रद्धा से चूमते हैं।

अफगानिस्तान में शिव की उपासना कभी जोरों पर रही होगी। वहां के दर्रा शक्कर में मानसरोवर स्थित है। यही शक्कर शंकर का ही अपभ्रंश है। लोगार के निकट बाणगंगा और ताशकुर्गान एवं एवक के मध्य 'चक्र आव' नामक एक चश्मा शिव से ही सम्बन्धित है। सराय खाजा के निकट कलाम नगर में 'जटा-शंकर' हैं वहां जो शिवलिंग मिलते हैं, उन्हें पंचशेर या पंचकी कहते हैं।

मिश्र देश में 'असिरिस' और 'आईसिस' नामक लिंग पूजे जाते हैं। असिरिस शिव के समान ही व्याघ्र चर्म से आवरित हैं तथा उनके कण्ठ में और शिर पर भी सर्प लिपटे रहते हैं। उनका वाहन भी बैल ही है, जिसका नाम 'एपिस' बताया जाता है। उनके पूजन में प्रयुक्त होने वाले पत्ते भी बिल्वपत्र जैसे ही होते हैं।

मंगोलिया में शिव मन्दिर बड़े भावनात्मक ढँग से बने हुए बताये जाते हैं। मन्दिरों के द्वारों पर गणेशजी की मूर्तियाँ बनी रहती हैं। छतों पर नागों के चित्र अंकित दिखाई देते हैं। शिवजी की जटा से निकलने वाली गंगा में वहां के लोगों की

अटूट श्रद्धा है। वे इस नदी को दिव्य और इसके जल को अमृत मानते हैं।

लाओस के आदिवासी, किसान एवं वन में रह वाले लोग शिव को अपना आराध्य मानते हैं। वर्षा ऋतु का आरम्भ होने पर जब खेती के लिए हल चलाया जाता है, तब लिंग-पूजन के रूप में महान् उत्सव मनाया जाता है। उनका विश्वास है लिंग-पूजन से प्रारम्भ किया जाने वाला कृषि कार्य अवश्य ही अच्छी फसल में सहायक सिद्ध होगा।

मलाया में त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमाएँ मिलती हैं। सन् ७३२ ई० के एक शिलालेख से सिद्ध होता है कि मतरम के राजा ने कुंजर कुंज में एक शिवलिंग स्थापित किया था। कालान्तर में शिव को एक मूर्ति-पूजक का रूप देकर और उनसे अल्लाह के नाराज होने का भ्रम फैलाया गया, जिसके फल-स्वरूप शिवजी के पूजन की प्रथा हटती चली गई।

कम्बोज में भी शिव मन्दिर मिलते हैं। वहां के 'वातचोम' नामक नगर में मिले स्तम्भ लेखों से विदित होता है कि शाके ८६६ में अकोरतोम नामक तालाब के केन्द्रीय स्थान में शिव-लिंग की प्रतिष्ठा कराई गई थी। कम्पोज में तक्षण शैली के मन्दिर बने थे, उनके शिखर पर एक शिव-मुख इस प्रकार बना होता था, जिसमें चार मुख होते थे, जिससे कि किसी भी दिशा में स्थित रह कर दूर से भी शिवजी के दर्शन किये ज सके।

चम्पा में भी शिव लिंगों की स्थापना प्रचुर संख्या में की गई थी। वहाँ के शासक स्वयं शिव मन्दिर बनवाते और उनके साथ अपना नाम भी जोड़ देते थे। वहां शिव की मनुष्याकार मूर्तियों की स्थापना का भी प्रचलन था। 'मीसोन' में एक ऐसी

प्रतिमा प्राप्त हुई, जिसके हाथों में रुद्राक्ष की माला और अमृत पात्र बने हुए हैं। 'ड्रान-लाम' की मूर्ति में वाहन के रूप में नन्दो भी है। 'यानमुन' में त्रिशूल धारी एवं त्रिनेत्र शिव की मूर्ति और 'ट्राक्म' में जटाधारी अहि-कण्ठ वाले शिव की मूर्ति मिली है और 'डांगचुक' में जो प्रतिमा मिली, वह अर्द्धनारीश्वर शिव की है।

यही नहीं, अन्य अनेक देशों में शिवजी के पूजन का प्रचलन रहा है। इससे यह मान्यता सत्य सिद्ध होती है कि सभी देवी-देवताओं से शिवजी की अधिक महिमा मानी गई और संसार भर के मनुष्य उनके पूजन और भक्ति में विश्वास रखते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसीलिए रामचरित मानस का आरम्भ करते ही 'भवानी शंकरौवन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ कह कर पार्वतीजी को श्रद्धा का और शिवजी को विश्वास का रूप बतलाया है। यहां यह ज्ञातव्य है कि पार्वतीजी भगवान् शिव से अभिन्न एवं उनकी शक्ति स्वरूपा हैं। इसलिए शिव और शक्ति दोनों की उपासना का भी लोक में प्रचलन है।

रुद्रहृदयोपनिषद का कथन है—'पुंल्लिगं सर्वमीशानं स्त्री-लिंगं भवत्युमा' अर्थात् संसार जितने भी प्राणी पुंल्लिग रूप से हैं, वे सभी रुद्र हैं और जितने भी स्त्री लिंगात्मक हैं, वे सभी उमा रूप हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि उमा और रुद्र रूप ही हैं। साथ ही यह भी कहा है कि 'व्यक्तं सर्वमुमारूपं अव्यक्तं तु महेश्वरम्' अर्थात् 'व्यक्त संसार उमा रूप और अव्यक्त संसार शिव रूप है।'

उपनिषदों ने शिव का परमात्मा रूप से निर्देश करते हुए 'शिवोऽहं' की मान्यता पर बल दिया है। वे अजर, अमर आत्मा को परमात्मा की समस्त शक्तियों से सम्पन्न मानते और आत्मा को ही शिव समझने की प्रेरणा देते हैं।

परन्तु, आत्मा और परमात्मा में जो अन्तर उपस्थित हो जाता है, उसे भी उपनिषत्कारों ने अनदेखा नहीं किया है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार—'अन्नमय कोष के भीतर अन्य कोष भी विद्यमान हैं, जैसे कोष वैसा ही जीव तथा जैसा जीव वैसा ही शिव (परमात्मा) है। अन्तर यही है कि जीव विकार-सहित और शिव विकार रहित है।

शिवार्चन मन्त्र

रुद्रोपनिषत् का कथन है—'आत्मा परशिवद्वयो गुरुः शिवः, गुरूणां सर्वविश्वमिदं विश्वमन्त्रेण धार्यम्' अर्थात् 'आत्मा ब्रह्म और शिव रूप है अथवा गुरु और शिव दोनों का स्वरूप है। गुरुओं का यह सम्पूर्ण विश्व विश्वमन्त्र से ही धारण करना चाहिए।' इसका अभिप्राय है कि विश्व की स्थिति ठीक रखने के लिए लोक हितकारी शिव मन्त्र के द्वारा अर्चन करना चाहिए। उपनिषदों में शिव के नाम मन्त्रों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—शिवाय नमः, शिवलिंगाय नमः, भवाय नमः, भवलिंगाय नमः, शर्वाय नमः, शर्वलिंगाय नमः, बलाय नमः, बल प्रमथाय नमः, शंकराय नमः, रुद्राय नमः आदि।

इससे यह धारणा बनना कि शिव ही ब्रह्म रूप हैं, वही शिव, विष्णु और ब्रह्मा हैं। जो कोई मनुष्य शिव की भक्ति करता है, वह अवश्य ही विष्णुभक्त है और जो विष्णु की भक्ति करता है उसके शिव भक्त होने में सन्देह नहीं है। रामचरित मानस में भगवान् रामचन्द्र जी का वचन है—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।
संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

अर्थात्—जो शिवजी का द्रोही मेरा भक्त कहलाता है वह मनुष्य मुझे स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर सकता। जो व्यक्ति शंकर से विरोध रख कर मेरी भक्ति चाहता है, वह अवश्य ही मूर्ख, अल्प बुद्धि वाला और नारकीय जीवन व्यतीत करने वाला है। शंकर के प्रिय और मेरे द्रोही अथवा शंकर के द्रोही और मेरे दास बनने वाले मनुष्य एक कल्प तक नरकवास रूपी दुःख भोगते हैं।

जब शिवजी को वर रूप में प्राप्त करने की इच्छा से पार्वती घोर तपस्या कर रही थीं, तब उनकी परीक्षा के लिए स्वयं शिव ने ब्रह्मचारी का वेश बनाया और अपनी ही निन्दा करने लगे। तब पार्वती ने जो उत्तर दिया, उसे महाकवि कालिदास ने इस प्रकार वर्णन किया है—

अकिंचनः सन् प्रभवः स सम्पदां
त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः।
स भीम रूपः शिव इत्युदीर्यते
न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः॥

अर्थात्—शिव परम अकिंचन होते हुए भी जगत् की समस्त सम्पदाओं के मूल हैं। वे श्मशान में निवास करते हुए भी त्रैलोक्य के स्वामी हैं। वे भयंकर रूप वाले प्रतीत होने पर भी शिव (कल्याण) रूप कहे जाते हैं। वस्तुतः उन पिनाकधारी शिव के तत्वज्ञान को कोई जान नहीं पाता, इसीलिए (सब जीव) उनके बाह्य रूप को देख कर मिथ्या भ्रम में पड़े रहते हैं।

शिव-तत्व विवेचन

शिव तत्व क्या है? त्रिदेवों में बड़ा कौन है? ब्रह्म का स्वरूप क्या है? आदि प्रश्नों का समाधान सहज ही नहीं हो

पाता इसलिए सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी भ्रम में पड़ जाते हैं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने शिवतत्व का विवेचन अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार किया है, परन्तु उन सभी के एक मत न होने से निराकरण नहीं हो पाता। फिर भी उन विवेचनों में ऐसे तथ्य भरे पड़े हैं, जिनका अध्ययन और मनन किया जाय तो अज्ञान बहुत कुछ दूर हो सकता है। शिव पुराण में उसकी व्याख्या इस प्रकार हुई है—

शिवः को वा हरिः को वा रुद्रः को वा विधिश्च कः।
एतेषु निर्गुणः को वा ह्येतं नश्छिन्धि संशयम् ॥

ऋषियों ने प्रश्न किया—हे सूतजी ! शिव कौन हैं ? विष्णु कौन हैं ? रुद्र कौन हैं और ब्रह्मा कौन हैं ? इन सब में निर्गुण कौन है, सगुण कौन है ? इस विषय में जो हमारा संशय है, उसे दूर करिये।

प्रश्न सुन कर सूतजी बोले—हे ऋषिगण ! संसार-सर्ग के आरम्भ में जो जिनकी उत्पत्ति निर्गुण, निर्विकार परमात्मा से हुई है, उन्हें ही वेद-वेदान्त के जानने वालों ने शिव कहा है। उन शिव से ही पुरुष के सहित प्रकृति हुई और उन दोनों ने मूल में स्थित होकर जल में तप किया। वही स्थान पंचकोशी नाम की सब को ही प्रिय काशी है, उसी का जल समस्त विश्व में व्याप्त हो रहा है। यह जान कर भगवान् विष्णु अपनी माया के सहित उसी जल में सोगए, इसलिए उनका नाम 'नारायण' और प्रकृति का नाम 'नारायणी' हुआ। नारायण की नाभि से ब्रह्माजी हुए, उन्होंने सर्व प्रथम भगवान् विष्णु के दर्शन किये। हे विज्ञजन ! ब्रह्मा और विष्णु के मध्य पारस्परिक विवाद उत्पन्न होगया, जिसे शान्त करने के लिए शिव ने अपने महादेव नाम से विख्यात होने वाले रूप के दर्शन कराये। फिर उन्होंने कहा

कि मैं शम्भु रूप के मस्तक से प्रकट होऊँगा। इस प्रकार अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए रूपरहित शिव ने रूप धारण किया, जिसका नाम रुद्र हुआ। परन्तु वस्तुतः निर्गुण शिव में और सगुण रुद्र में कुछ भी भेद नहीं है।

यह जीव कर्म रूप रस्सी द्वारा बँध कर तीन प्रकार के शरीरों से युक्त होकर आवागमन के चक्र में घूमता फिरता है। चक्र को घूमने से रोकने के लिए चक्रकर्त्ता (शिव) का पूजन करना चाहिए। प्रकृति आदि अष्ट महा चक्रों से भगवान् शिव परे हैं। जैसे वृक्षों के थाँवले जल को पीकर उसे वृक्षों में पहुंचा देते हैं, वैसे ही शिवजी प्रकृति आदि को अपने वश में किये हुए हैं। वही सर्वज्ञ, परिपूर्ण, निस्पृह एवं अपनी सर्वज्ञता के कारण पूर्ण तृप्त एवं अनादि बोध हैं। वे स्वतन्त्र, जाग्रत एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके षड्गुणैश्वर्य को वेद ही जान सकते हैं। शिवजी की प्रसन्नता प्राप्त करके ही प्रकृति आदि को वश में किया जा सकता है। शिव की प्रसन्नता प्राप्ति का उपाय उनका भक्ति भाव पूर्वक पूजन करना ही है।

अथर्व शिरोपनिषद् ने शिवतत्व का विश्लेषण करते हुए कहा है कि एक समय देवताओं ने भगवान् रुद्र से प्रश्न किया— 'आप कौन हैं ?' रुद्र बोले—'अहमेकः प्रथममास वर्तामि च भविष्यामि च यान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति' इत्यादि अर्थात् 'मैं एक हूं, भूत, वर्तमान और भविष्य कालों में भी मैं हूं, मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो अन्तर के भी अन्तर में है, जो सब दिशाओं में प्रविष्ट है, वह मैं हूँ। मैं ही नित्य और अनित्य हूं, मैं ही व्यक्त और अव्यक्त हूं, मैं हो ब्रह्म हूं और मैं ही अब्रह्म हूं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधोदिशा, रूप, प्रतिरूप, पुमान्, अपुमान् एवं स्त्री भी मैं ही हूं। मैं ही गायत्री, सावित्री,

त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप आदि छन्द, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आह्वानीय (तीनों अग्नि), सत्य, गौ, गौरी, ऋक्, यजु, साम, अथर्व (चारों वेद), आंगिरस, ज्येष्ठ, वरिष्ठ, जल, तेज, गुह्य, अरण्य, अक्षर, क्षर, पुष्कर, पवित्र, अग्र, मध्य, बाह्य, पुरस्तात, इस प्रकार ज्योति रूप हूं । मुझे सब में ही व्याप्त समझो । मुझे जानने वाला सभी देवताओं को और अंग सहित सब वेदों को जानता है ।

इस प्रकार संसार की सभी वस्तुएँ शिवरूप हैं । 'ईशानः सर्व विद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् ।' अर्थात् 'ईशान ही समस्त विद्याओं और भूतों के ईश्वर हैं' वही सब प्राणियों के हृदयों में समाविष्ट हैं और सम्पूर्ण चराचर जगत् उनमें समाविष्ट है । यही शिवतत्व का सार है इसलिए शिव की उपासना करने वालों को भी सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

शिव की भक्ति और पूजा

आत्मा ब्रह्मरूप एवं शिवमय है, इसलिए भगवान् शिव का निरन्तर ध्यान करने वाले शिवभक्त एक चित होने के कारण संसार सागर से मुक्त हो जाते हैं । शिवलिंग का अभिषेक करने से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं । इसलिए शिव की शरण लेना ही श्रेयस्कर है । रुद्रोपनिषद् के अनुसार ब्राह्मण वही है जो पंचाक्षर मन्त्र (नमः शिवाय) का जप करता है । शिवभक्त के हाथ की भस्म यज्ञ की भस्म से भी शुद्ध होती है । अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और आकाश सभी भस्ममय है, ऐसा मानकर भस्म को धारण करना चाहिए ।

एक समय की बात है सनत्कुमार ने भगवान् कालाग्नि रुद्र से भस्म धारण की विधि विषयक प्रश्न किया तो भगवान् बोले--

'त्रिपुण्ड का द्रव्य अग्निहोत्र की भस्म ही है, इसे 'ओ३म् अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म' इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करे, मानस्तोक मन्त्र से अँगुली पर ले और 'मा नो महान्' मन्त्र से जल लेकर 'त्रियायुष' मन्त्र से शिर, ललाट, वक्ष और कन्धे पर त्रियायुष और त्र्यम्बक मन्त्र से तीन रेखाएँ करे। इसे शाम्भव व्रत कहते हैं। इसके धारण से श्रेष्ठ भक्तों को पुनर्जन्म धारण नहीं करना होता।

भगवान् वेदव्यासजी का वचन है—'सर्वदेवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः' इत्यादि (रुद्र हृदयोपनिषद्) अर्थात् 'भगवान् रुद्र में सब देवता निवास करते हैं। रुद्र भगवान् के दक्षिण पार्श्व में सूर्य, ब्रह्मा तथा गार्हपत्य और दक्षिण अग्नियों की स्थिति है तथा वाम पार्श्व में उमा, विष्णु और सोम स्थित हैं। इन तीनों में कोई भेद नहीं है। क्योंकि उमा ही भगवान् विष्णु हैं और विष्णु ही सोम हैं' तथा—

ये नमस्यन्ति गोविन्दं ते नमस्यन्ति शंकरम्।
येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चयन्ति वृषध्वजम्॥

अर्थात्—'जो गोविन्द को नमस्कार करते हैं, उनका नमस्कार भगवान् शंकर को स्वयं ही पहुँच जाता है। जो भक्त भगवान् विष्णु का पूजन करते हैं, वे भगवान् वृषभध्वज का ही पूजन करते हैं।'

इसी प्रकार अन्यान्य देवी देवताओं की उपासना-आराधना की जाती है। उन सबकी पूजा-विधि पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में वर्णित है, जिसका विस्तार यहाँ अभीष्ट नहीं है। इतना भी जो कुछ लिखा गया है, वह सब प्रसंगवश है। क्योंकि भक्त की भावना में ही भगवान् का निवास है। उनके विविध रूपों का अनुभव उसे अपने ही अन्तराल में हो जाता है। 'ब्रह्मविद्योपनिषद्' के अनुसार—

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ।।
नासाग्रे अच्युतं विद्यात्तस्यान्ते तु परं पदम् ।
परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ।।

अर्थात्—ब्रह्मा का स्थान हृदय है, विष्णु कण्ठ में रहते हैं, तालु में रुद्र और ललाट में महेश्वर का निवास है। नासाग्र में अच्युत को जानो और उसके अन्त में परमपद है। पर से पर अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसा शास्त्रों का मत है।

इस प्रकार भगवान् का भक्त अपने में ही सब देवताओं का स्वाभाविक रूप से अनुभव करने लगता है। उसे अपने इष्टदेव को खोजने के लिए कहीं अन्यत्र नहीं जाना पड़ता। परन्तु आवश्यकता यह है कि उसके मन में अपने इष्टदेव के प्रति अत्यन्त श्रद्धा विश्वास और भक्ति की विद्यमानता हो।

आदित्य की भक्ति और पूजा

भगवान् सूर्य महा तेजस्वी और सभी प्राणियों की बुद्धियों के प्रेरक हैं। लोक-प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के जप से उन्हें प्रसन्न करना चाहिए–ओ३म् भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्।' अर्थात् 'जो सूर्य भगवान् प्रणव के अर्थ भूत सत्-चित्-आनन्द स्वरूप तथा भूः भुवः स्वः रूप से त्रैलोक्य रूप हैं, उन्हीं विश्व-रचयिता देव के महान् तेज का हम चिन्तन करते हैं। वे भगवान् हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दें।'

भगवान् सूर्य सम्पूर्ण स्थावर जंगम के आत्मा और सभी भूतों की उत्पत्ति करने वाले हैं। उन्हीं से वायु, भूमि, जल, ज्योति, आकाश और दिशाएँ उत्पन्न होती हैं। उन्हीं से देवताओं और वेदों का प्राकट्य हुआ है। वही पंच प्राण के रूप में

शरीरों में प्रतिष्ठित हैं और वही पंचेन्द्रिय के रूप में कार्य करते हैं। वही दशों इन्द्रियों के विषय एवं ज्ञान-विज्ञान से युक्त और आनन्दमय हैं।

'ओ३म् इत्येकाक्षरं ब्रह्म, घृणिरिति द्वे अक्षरे, सूर्य इत्यक्षर-द्वयम्, आदित्य इति त्रीण्यक्षराणि, एतस्यैव सूर्यस्याष्टाक्षरो मन्त्रः' (सूर्योपनिषद्) अर्थात् 'ओ३म्' रूप एकाक्षर मन्त्र ब्रह्म है, 'घृणि' और 'सूर्य' दो-दो अक्षर के मन्त्र हैं तथा 'आदित्य' में तीन अक्षर हैं। इस प्रकार यह सूर्य नारायण का अष्टाक्षर महामन्त्र बनता है। इसे नित्य प्रति जपने वाला भक्त ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। यदि इसे सूर्य की ओर मुख करके जपे तो रोग, दारिद्रय और पाप दूर होते हैं। प्रातःकाल पाठ करे तो भाग्यवृद्धि होती है। सूर्य के हस्त नक्षत्र पर रहते हुए इसका जप करने से महा-मृत्यु से पार होता है।

शक्ति की भक्ति और पूजा

शक्ति के अनेक नाम-रूप हैं, उनमें दुर्गा, काली, गौरी आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। संसार में जितनी भी देवियाँ हैं, वे सब एक ही हैं और भक्तगण उनमें से चाहे जिस देवी की भक्ति करके इच्छित फल-लाभ कर सकता है।

देव्युपनिषद् में देवी-देवताओं के सम्वाद रूप में एक आख्या-यिका का वर्णन मिलता है, जो कि इस प्रकार है कि एक बार सभी देवता भगवती के समीप जाकर निवेदन करने लगे—'महा देवि ! आप कौन हैं ?' देवी ने उत्तर दिया—'मैं ब्रह्म स्वरूपिणी हूँ। यह कार्य कारण रूप प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्द रूपिणी भी हूं और आनन्द-रहित रूप वाली भी हूं। मैं विज्ञानमयी भी हूं और अविज्ञानमयी भी।

मैं ज्ञातव्य ब्रह्म भी हूं और उस ब्रह्म से परे भी हूं। मैं पंचीकृत भी हूं और अपंचीकृत पंचमहाभूत भी। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् भी मैं ही हूं। मैं ही विद्या, अविद्या, वेद-अवेद और अजा या अनजा भी हूं। मैं सभी दिशाएँ हूं तथा रुद्रों और वसुदेवों के रूप संचार करने में समर्थ हूं।

मैं ही मित्रावरुण, इन्द्र-अग्नि और अश्विनीकुमारों की पालिका हूं। सोम, पूषा, भग और त्वष्टा को मैं ही धारणा करती हूं। तीनों लोकों को आक्रान्त करने के उद्देश्य से परक्षेप करने वाले विष्णु, ब्रह्मा और प्रजापति को भी मैं ही धारण करती हूं। उपासकों के लिए धनदायिनी, ज्ञानवती, यज्ञों में नायिका तथा सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी हूं।

बह्वृचोपनिषद् में कहा गया है कि देवी ने ही ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया और वही संसार के उत्पन्न होने से पूर्व स्थित थीं। वही 'कामकला' और 'शृगारकला' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हीं को अपराशक्ति, शाम्भवी विद्या, कादि विद्या, हादि विद्या, सादि विद्या व रहस्य रूपा भी कहते हैं। वही प्रणव का प्रतिपादन करने वाली प्रणव स्वरूपा हैं। वही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं व तीनों प्रकार के शरीर में व्याप्त हो रही हैं।

काली तन्त्र के अनुसार काली का मन्त्र—'क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा' यह मन्त्र सभी मन्त्रों में श्रेष्ठ माना गया है। इसके वर्णों का अभिप्राय यह है कि 'जल रूपी ककार मोक्षदायक है, अग्नि रूपी रेफ सर्वतेजोमयी है, क्रीं क्रीं क्रीं' सृजन, स्थैर्य और प्रलय के द्योतक हैं। बिन्दु निष्कल ब्रह्मरूप है, इसलिए कैवल्य प्रदान करने में समर्थ है। 'हूं हूं' ज्ञान प्रदान करते हैं, 'ह्रीं ह्रीं' यह दोनों बीज सृजन, स्थिरता और प्रलय का प्रतिनिधित्व करते हैं, 'दक्षिणे

कालिके' सम्बोधन है, जिससे देवी की समीपता अभिप्रेत है तथा स्वाहा से विश्व के मातृरूप का वोध होता है और यह सभी पापों का हरण करने वाला भी है।

कुछ अनुभवी विद्वानों के अनुसार जो लोग उक्त काली मंत्र का जप करने में कठिनाई अनुभव करें, उनके लिए सबसे सरल मन्त्र 'क्लीं' है। इसका जप सरलता से होजाता है और फल भी अद्‌भुत एवं सद्यः होता है। सुदृढ़ भक्ति-भाव पूर्वक जपने से भोग और मोक्ष दोनों का देने वाला है। अर्थात् इस श्लोक में सम्पूर्ण काम्य भोगों को प्रदान करता है और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ा कर परमानन्द की प्राप्ति कराता है।

ब्रह्म-निरुपण

अब निर्गुण ब्रह्म के निरुपण में भी कुछ तथ्य प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है। विद्वानों की मान्यता है कि सगुण का उपासक भी अन्त में निर्गुण को ही प्राप्त होता है, क्योंकि ब्रह्म अव्यक्त, अव्यय, अजन्मा और अशरीरी है। केनोपनिषत् का कथन है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्—
वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

अर्थात्—जो मन का मन है, प्राण का प्राण है, वाक् की वाणी है, श्रोत्र की श्रवण शक्ति और चक्षु की दर्शन शक्ति है (उसे जो जानता है) वह ज्ञानी पुरुष इस लोक से जाते हुए जीवन्मुक्त एवं अमर होजाता हैं।

इसी उपनिषद् में आगे कहा है—वहां न तो चक्षु पहुँचती है, न वाणी ही, और न मन ही पहुँच सकता है। उसे हम न तो स्वयं जानते हैं, न दूसरों से सुन कर ही जान सके हैं तो उसके रूप को ही कैसे बताया जाय ? वह विदित पदार्थों और अविदित पदार्थों से भी भिन्न ही है। जो वाणी के द्वारा नहीं कहा गया, परन्तु जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है, उसे ही 'ब्रह्म' समझना चाहिए।

जिस ब्रह्म को मन के द्वारा नहीं समझा जा सकता, परन्तु उसकी शक्ति को प्राप्त करके ही मन जाना हुआ हो जाता है। उसे नेत्रों से कोई देख नहीं सकता, परन्तु नेत्रों को जिसके द्वारा दर्शन शक्ति प्राप्त होती है, वही ब्रह्म है। जिसके शब्द कानों से सुने नहीं जाते, परन्तु जिससे कानों को श्रवण शक्ति प्राप्त होती है, वह ब्रह्म है। जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता, वरन् जिसके द्वारा प्राण प्रेरणा प्राप्त करता है, वही ब्रह्म है।

केनोपनिषत् में ही आगे कहा गया है—यदि तू समझता है कि मैंने ब्रह्म को जान लिया है तो हो सकता है कि ब्रह्म के स्वरूप को थोड़ा-सा जान गया हो। परन्तु जो यह कहता है कि ब्रह्म जाना नहीं जा सकता, उसका हो जाना हुआ समझ। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञान ही यथार्थ है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है (आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्) यदि इस शरीर में ही ब्रह्म को पहिचान लिया तब तो यथार्थ सुख है ही, अन्यथा विनाश ही समझना चाहिए। 'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्या माल्लोकादमृता भवन्ति' अर्थात् 'ज्ञानीजन प्राणी-प्राणी में ब्रह्म को विद्यमान जानकर (इस लोक से जाने पर) अमर होजाते हैं।

आत्मा के चार स्थान

ब्रह्मोपनिषत् में ब्रह्म का निरूपण जिस प्रकार हुआ है वह

समझने की वस्तु होते हुए भी स्पष्ट है। यदि इस पर ठीक प्रकार से मनन किया जाय तो ब्रह्म का ज्ञान शीघ्र हो सकता है। यथा—'अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धा च। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुसुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्। स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरः स्वयममनस्कश्रोत्रभपाणिपादं ज्योतिर्विदितम्।'

अर्थात्—शरीर में आत्मा के चार विशेष स्थान हैं (१) नाभि, (२) हृदय, (३) कण्ठ, और (४) ब्रह्मरन्ध्र। इनमें चार चरण वाला ब्रह्म प्रकाशित होता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ऐसी चार अवस्थाएँ आत्मा की हैं। इनमें से जाग्रत् में ब्रह्मरूप में, स्वप्न में विष्णुरूप में, सुषुप्ति में रुद्र रूप में और तुरीयावस्था में अक्षर (परमात्म) रूप में प्रकाशमान होता है। यह आत्मा स्वयं मन, इन्द्रिय, और हाथ-पाँव आदि से रहित और प्रकाशमान है।

इससे आगे कहा है कि इस आत्मा (ब्रह्म) में लोकों की स्थिति लोक रूप में नहीं है, देवता देव रूप में नहीं हैं, वेद वेद-रूप में नहीं हैं, यज्ञ-यज्ञ रूप में नहीं हैं, माता माता रूप में नहीं है, पत्नी पत्नी रूप में नहीं है, चण्डाल चण्डाल रूप में नहीं है, संन्यासी संन्यासी रूप में नहीं है और वानप्रस्थी वानप्रस्थी रूप में नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म सदैव एक ही रहता हुआ निर्वाण रूप से प्रकाशित होता है।

अभिप्राय यह है कि यह आत्मा लोक, देवता, वेद, यज्ञ माता, पत्नी, चाण्डाल अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य. शूद्र आदि नहीं है। न यह संन्यासी है और न वानप्रस्थी ही है। यह तो सदा उक्त उपाधियों से दूर रहता हुआ ब्रह्मरूप से प्रकाशमान रहता है। इसे कोई भी सांसारिक सम्बन्ध लिप्त नहीं करते।

क्योंकि वह सदा एक, एकरस, अमर एवं अजन्मा है। वही सब जीवधारियों के शरीर में विद्यमान रहता है, इसलिए जो आत्मा है वही परमात्मा है। भगवद्गीता (१३।१७) में भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।

अर्थात्—वह ब्रह्म ज्योतियों को भी प्रकाशित करने वाला ज्योति एवं माया से अति परे कहा जाता है। वही परमात्मा जानने योग्य है। वह तत्वज्ञान से प्राप्त होने वाला सभी के हृदय में स्थित है।

ब्रह्मविद्योपनिषत् में 'अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोस्म्य गुणोऽस्म्यहम्। अमायोऽनुभवात्माऽहमनन्योऽविषयोऽम्यहम्' कह कर व्यक्त किया है कि 'मैं सत्व, रज, तम से रहित, गुणों से परे, तथा अनुभव स्वरूप हूं और मैं ही अनन्य और अविषय हूँ।'

तेजोबिन्दूपनिषत् का मत है कि 'विश्व में और अपने हृदय में रहने वाले तेज रूप विन्दु का ध्यान सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि यही परमात्मा का स्वरूप, शान्त, स्थूल, सूक्ष्म और परतत्व है। इस मुक्त, अविनाशी स्वरूप का साक्षात्कार कठिन है इसलिए यह ध्यान मुनियों और मनीषियों के लिए भी दुर्लभ है। यह अशून्य होते हुए भी शून्य स्वभाव वाला है, शून्य से भिन्न है, हृदय में ही निवास करता है तथा ध्यान, ध्याता एवं ध्येय रूप नहीं है, तो भी केवल ध्येय तो है ही।

वृहद्रथ-शाकामन्यु संवाद

मैत्रेय्युपनिषत् में राजा वृहद्रथ और शाकामन्यु मुनि का सम्वाद मिलता है, जिसमें राजा वृहद्रथ मुनिवर शाकामन्यु से

निवेदन करते हैं कि 'हे भगवन् ! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूं और आप तत्व के पूर्ण ज्ञाता हैं, इसलिए मेरे प्रति तत्व को उपदेश दीजिए। इस पर शाकामन्यु कहते हैं--'हे राजन् ! हे वृहद्रथ ! तू कृतकृत्य है। मरुत नाम से तेरा आत्मा प्रख्यात है।'

राजा ने कहा—'भगवन् ! आत्मा क्या है ? यह बताने की कृपा करें।' यह सुन कर मुनि ने कहा—'शब्द, स्पर्श आदि विषय अनर्थ करने वाले होते हैं और उनमें जो निमग्न हो जाता है, उसे परमपद का स्वरूप याद नहीं आता। 'तपसा प्राप्यते सत्वं सत्वात्सं प्राप्यते मनः' अर्थात् 'तप से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से मन वश में आता है।' फिर जब मन वश में हो जाता है, तब उसे आत्मा की प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा में स्थित होने पर ही संसार के बन्धन से छुटकारा हो जाता है। जैसे जलती हुई लकड़ी के समाप्त हो जाने पर जलता हुआ अग्नि स्वतः बुझ जाता है, वैसे ही वृत्तियों के नाश होने पर चित्त स्वतः शान्त होकर अपने कारण रूप आत्मा में लय हो जाता है। इस प्रकार शान्त बना हुआ चित्त जब आत्मा में लीन हो जाता है, तब उसे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है।

निज स्वरूप में स्थिति

पैगल उपनिषद् के अनुसार हृदय को निर्मल करके और अनामय ब्रह्म का चिन्तन करके यह जान लेना चाहिए कि मैं ही सर्व रूप ब्रह्म हूं, मैं ही परम सुख रूप हूं। जैसे जल में जल डालने से, दूध में दूध मिला देने से, घृत में घृत मिला देने से वे एक रूप हो जाते हैं, वैसे ही जीवात्मा और परमात्मा के मिल जाने पर वे भी एक रस हो जाते हैं। जब ज्ञान के द्वारा देहाभिमान नष्ट हो जाता है और बुद्धि अखण्डाकार हो जाती है तब बुद्धि-

मान पुरुष ज्ञान रूपी अग्नि में कर्म बन्धनों को भस्म करने में सफल हो जाता है। फिर वह विमल वस्त्र के समान होकर उसी प्रकार अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, जिस प्रकार कि जल दूसरे जल में मिल कर अभिन्न होता है।

एकाक्षरोपनिषद् का कथन है कि विश्व के कण-कण में जीवन-शक्ति के रूप में तू ही व्याप्त है और तू ही विराट्रूप धारण करता है। तू ही अग्नि, यज्ञ और पुराण पुरुष है। प्राण रूप धाता, विश्वकर्त्ता विधाता, हर्ता, पवन, गरुड़, विष्णु, वराह, रात-दिन, भूत, भविष्यत, वर्तमान, वसु, आकाश और रुद्र भी तू ही है। अन्तर्यामी रूप में तू हीं सर्वत्र ओत-प्रोत है। विविध प्रकार की गतियों, विश्रान्तियों और वेद-रूप भी तू ही है। हे सहस्रबाहो ! हे ज्योति स्वरूप ! वेद-विद् पुरुष सामगान और यजुर्वेदी यज्ञ-प्रार्थनाओं द्वारा तेरा ही गान किया करते हैं।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित आत्मज्ञान ही ब्रह्म ज्ञान है। उसके परायण पुरुषों के लिए न कोई वर्ण शेष रहता है, न कोई आश्रम ही। नियम या निषेध कुछ भी आत्मज्ञानी के लिए आवश्यक नहीं है। उसके लिए न कुछ त्याज्य है और न कुछ अत्याज्य ही है। अथवा यह कहिए कि वह तो त्याज्य, अत्याज्य, नियम, निषेध आदि सब से ऊपर उठ कर ही संसार-बन्धनों से मुक्त होजाता है। उस समय उसे कोई भी चाहना नहीं रहती। नारदपरिव्राजकोपनिषत् के षष्ठ उपदेश में कहा है—

विरज्त सर्वभूतेभ्य आविरिंचिपदादपि।
घृण विपाटय सर्वस्मिन्पुत्रवित्तादि केष्वपि॥
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञान लिप्सया।

उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं ब्रजेत् ॥
निर्ममो निरहंकारः सर्वसंगविवर्जितः ।
प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥
मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ।
एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स सन्तरिति नेतरः ॥

अर्थात्—'ब्रह्म में जिज्ञासा रखने वाले को कभी किसी पद की कामना नहीं करनी चाहिए, चाहे ब्रह्मा का भी पद क्यों न मिलता हो, उसकी भी चाहना न करे। पुत्र, वित्त आदि के प्रति आसक्ति रहित होकर मोक्ष-प्राप्ति के साधन में ही लगा रहे और वेदान्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञानी गुरु की शरण में जाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे। मोह और अहंकार का त्याग कर सब प्रकार के संगों का त्याग करे अर्थात् अधिक लोगों के सम्पर्क से वचे और एकान्तप्रेमी बने। ज्ञानी और वेदान्त का जानने वाला योगी होकर ममता और अहंकार से बचता हुआ, मित्र और शत्रु तथा सभी प्राणियों में समान भाव रखता हुआ अन्तः करण को सब प्रकार के विकारों से हटा कर शान्त हो, वही संसार सागर से तर सकता है। अन्यथा जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होना असम्भव ही है।' यही निर्देश गीता (१२।१८) में मिलता है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

अर्थात्—जो मनुष्य शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख आदि में समान भाव रखने वाला, सभी संगों या आसक्तियों से रहित, निन्दा और स्तुति को भी समान समझने

वाला, मननशील और जिस प्रकार निर्वाह हो सके उसी में सन्तुष्ट, घर आदि की ममता से भी रहित भक्तियुक्त है, वह मुझे प्रिय है।

'असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम् । प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानंदः परमात्माऽऽविर्भवति' (महावाक्योपनिषत्) अर्थात् 'यह आदित्यस्वरूप ब्रह्म प्रत्येक शरीर में स्थित है। यह बिना किसी अधिक प्रयत्नों तथा बिना जप आदि कष्ट साधनों के ही प्राप्त किया जा सकता है। यही वह 'हंस' है, जिसका प्राण, अपान, श्वास, प्रश्वास द्वारा ज्ञान प्राप्त कर चिरकाल तक साधन करने से इस विद्या द्वारा त्रिस्वरूप (समष्टि, व्यष्टि एवं तदैक्य) आत्मब्रह्म में ध्यान करने पर सत्, चित्, आनन्द स्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है।

इस प्रकार वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि सभी में कैवल्य प्राप्ति के विविध उपायों का निर्देश मिलता है, उन सभी की भावना समान है। परन्तु भक्ति-मार्ग में अन्य मार्गों जैसी कठिनाई नहीं होती। क्योंकि भक्त तो किसी कर्म में भी रुचि नहीं रखता—

ना जानूँ मैं जप तप पूजन, ना कोउ नाम सुमिरनौ ।।
नाचत निसि दिन नैन कन्हाई, ना कछु करनौ-धरनौ ।।

एक ही ब्रह्म के दो रूप

ऊपर गणपति आदि की प्रतिमा-पूजन के रूप में ईश्वर की उपासना का जो उल्लेख हुआ है, वह उसके सगुण या साकार रूप का ही वर्णन है। परन्तु, वेदान्त ग्रन्थों में परमात्मा के निर्गुण या निराकार रूप की उपासना का हो निर्देश मिलता

है। उस निर्गुण ब्रह्म के किसी भी गुण या आकार की वर्णन करने में वाणी असमर्थ है। केनोपनिषद् ने बहुत स्पष्ट रूप से कह दिया है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

अर्थात्—जो वाणी के द्वारा नहीं कहा गया, वरन् जिसके द्वारा वाणी बोली जाती है उसी को तू ब्रह्म जान। वाणी द्वारा कहे जाने वाले जिस तत्व की उपासना की जाती है, वह तत्व ब्रह्म नहीं है।

कठोपनिषद् के अनुसार—वह परमात्मा सर्व व्यापी, अश-रीरी, अविचल एवं महान् है, उसे इस प्रकार जानने वाला विज्ञ मनुष्य कभी शोकातुर नहीं होता। उस परमेश्वर की प्राप्ति कहने-सुनने से अथवा बुद्धि से नहीं होती, वरन् जिस पर उसकी कृपा होती है. उसी के द्वारा प्राप्त हो सकता है। क्योंकि वह अपने कृपापात्र पर ही अपने रूप को प्रकट करता है।

भगवान् का आकार-रहित सच्चिदानन्द स्वरूप 'नेति-नेति' कहा जाता है। अर्थात् जिसकी 'इति नहीं है' ऐसा वह परमात्मा शरीरधारी नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर की तो 'इति' प्रत्यक्ष देखी जाती है। इससे यही मान्यता होती है कि परमात्मा का निराकार और निर्गुण होना ही सत्य है।

परन्तु, उसके निराकार रूप का ज्ञान भी आवश्यक है, जो कि श्रेष्ठ पुरुषों की संगति से हो सकता है। कठोपनिषद् में ही कहा है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।

अर्थात्—जो परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित एवं अनन्त, अनादि, नित्य, अव्यय और आत्मा से भी श्रेष्ठ एवं सत्य स्वरूप है, उसे जान लेने पर मनुष्य मृत्यु-मुख से मुक्त होजाता है।

परन्तु भक्तजन भगवान् के सगुण रूप की उपासना करते हैं। उनका प्रेममय भगवान् कोई अन्य नहीं, वह सच्चिदानन्द अजन्मा ब्रह्म ही है। परन्तु उसके उस सूक्ष्म रूप की उपासना भक्त के लिए सम्भव नहीं। जिनकी भक्ति परिपक्व नहीं हुई है, उन्हें तो उपासना के लिए कोई रूप चाहिए ही। क्योंकि बिना किसी रूप के किस का ध्यान करे? जब रूप ही नहीं तो ध्यान ही कैसा? यही कारण है कि भक्त को सगुण उपासना ही सरल रह सकती है। उसे अपनी उसी उपासना से ईश्वर के प्रति विश्वास की प्रबलता होने लगती है। कठोपनिषद् की ही मान्यता है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति॥

अर्थात्—'ब्रह्म अवश्य है' इस निश्चय के साथ उसे मान्य करे और फिर तत्वभाव द्वारा उसे प्राप्त करे। इस प्रकार परमात्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले उपासक के निकट परमात्मा का तत्वभाव प्रकट होजाता है।'

परन्तु, उस तत्वभाव के प्राकट्य में केवल विश्वास से ही कार्य नहीं चलता, उसके लिए तो अत्यन्त प्रेम की भी आवश्यकता होती है। वह प्रेम निस्पृह होना चाहिए। उसमें किसी प्रकार की इच्छा या वासना का समावेश न हो। यहां तक कि उसमें इतनी अनन्यता का भाव भर जाय कि भक्त को भगवान् की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की प्राप्ति भी अना-

वश्यक प्रतीत होने लगे और वह मोक्ष को भी निरर्थक ससझले। उसके लिए सभी प्रकार की कामनाओं का नष्ट होना आवश्यक है —

> सदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
> अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।
> यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
> अथ मर्त्योंऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् ।।

अर्थात्—जव हृदय में उत्पन्न होने वाली सभी कामनाएँ मिट जाती हैं, तब वह यहीं ब्रह्म का साक्षात् कर लेता और अमरत्व को प्राप्त होता है। जब हृदय की सभी गाँठ खुल जाती हैं तब मनुष्य अपने इसी शरीर से अमरत्व का अनुभव करने लगता है, यही निश्चित विधान है।

प्रतीकोपासना

इसीलिए प्रतीकोपासना को मान्यता दी जाती है। प्रतीक का अर्थ है वास्तबिक वस्तु का प्रतिरूप अथवा वास्तविक वस्तु के भाव को किसो अन्य वस्तु में निहित करना। ब्रह्म के स्थान पर किसी वस्तु को प्रतीक मान कर उसकी पूजा करना ब्रह्म की ही पूजा करना है। इसी उद्देश्य से संसार में मूर्ति, प्रतिमा या विग्रह का पूजन किया जाता है। यह मूर्तियां मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण या धातु आदि की होती हैं। इनके अभाव में चित्रों का पूजन भी मान्य है।

ईश्वर की प्रतीक इन मूर्तियों के प्रति श्रद्धा और बिश्वास-भाव जाग्रत् करने के उद्देश्य से, इन्हें प्राण प्रतिष्ठित किया जाता है। इसके लिए मन्दिरों का निर्माण करा कर मूर्तियां स्थापित कराई जाती हैं। जो लोग सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे अवतारों

की कथाएँ सुनते और घरों में भी अपने इच्छित अवतार के प्रतीक का पूजन करते हैं। अनेक घरों में पाषाण या धातु की मूर्तियाँ भक्ति-भाव पूर्वक पूजी जाती हैं। इसमें यह आवश्यक नहीं कि उन मूर्तियों को प्राण-प्रतिष्ठित कराया जाय।

इस प्रकार प्रतीकोपासना निर्गुण ब्रह्म की उपासना से बहुत सरल है। पुराणों और तन्त्रशास्त्रों में तो इस प्रकार की उपासना को महत्व दिया ही गया है, उपनिषदों और श्रुतियों में भी उसकी मान्यता स्वीकार की गई है। सब प्रकार की प्रतिमाएँ, मृत्तिका-पिण्ड, शालिग्राम की पाषाण-वटिक आदि इसी प्रतीकोपासना में आती हैं, यहां तक कि पितरों का पूजन भी इसी उपासना का एक अंग है।

परन्तु, पितरों की उपासना में अपने पितरों की तृप्ति की भावना होने से उसमें स्वार्थ का पुट रहता है। कोई भी मनुष्य पितरों की सन्तुष्टि में अपनी समृद्धि को ही अधिक देखता है। क्योंकि उसे यह भय रहता है कि पितरों के असन्तोष से परिवार पर कभी भी कोई विपत्ति आ सकती है। इसलिए इस उपासना को भक्ति के अन्तर्गत नहीं मान सकते।

देवोपासना के दो भेद

विभिन्न देवताओं की उपासना के दो भेद हैं—(१) किसी कामना विशेष से उपासना करना, (२) ईश्वर मान कर उपासना करना। प्रथम प्रकार की उपासना को भक्ति का रूप नहीं दे सकते, क्योंकि उसमें जिस फल की कामना की जाती है, उसी फल की प्राप्ति होती है। किन्तु दूसरे प्रकार की उपासना यदि एकाग्र मन से सुदृढ़ श्रद्धा और विश्वास पूर्वक की जाती है तो वह मोक्ष की देने वाली होने के कारण स्पष्ट रूप से भक्ति ही है,

क्योंकि पहिले बता चुके हैं कि सभी देवता भगवान् के ही रूप हैं और उनकी पूजा भगवान् की ही पूजा है।

इसमें कुछ व्यक्ति शंका करते हैं कि विभिन्न प्रतिमाओं के पूजन से निर्गुण ब्रह्म की पूजा कैसे मानी जा सकती है ? इसका समाधान बहुत स्पष्ट है—किसी तुलसी के पौधे पर जल चढ़ाइयें तो वह किसी न किसी प्रकार उसकी जड़ में पहुँच ही जायगा। किसी भी यथार्थ-अयथार्थ के प्रति मति का भिन्न होना स्वाभाविक है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि सभी की बुद्धि सब विषयों के प्रति समान हो। 'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्नः' प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव पृथक् होने के कारण उसकी मति में भिन्नता होना भी स्वाभाविक ही है।

सगुण-निर्गुण के विषय में जो यथार्थ ज्ञान है, वह इतना सूक्ष्म है कि सभी व्यक्ति उसे सरलता से नहीं समझ सकेते। वर्तमान काल में सगुण उपासना का बाहुल्य देखा जाता है, इसलिए उसकी ओर से हट कर निर्गुण की ओर बढ़ना बहुत ही कठिन कार्य है। जब अधिक व्यक्ति एक कार्य को करते हैं, तब यदि कोई उसके प्रति उदासीनता दिखावे तो वह ठीक नहीं समझा जाता। क्योंकि खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग पलटता है। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही है।

फिर, मत-मतान्तर का विवाद तो ऐसा है जो सहज ही दूर नहीं किया जा सकता। उसमें मान्यताएँ तो बाधक होती ही हैं, हठधर्मी भी मनुष्य को विवेक से दूर रखती है, तब उसका निराकरण किस प्रकार हो ? पंचभूतात्मक और त्रिगुणात्मक सृष्टि की उत्पत्ति मूल माया से होती और वह क्रमशः अनन्त आकृतियों में व्यक्त होती है। इसलिए उसमें अनेक प्रकार के भ्रमों का समावेश रहना भी अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

और फिर सगुण ब्रह्म की उपासना को भी साधक मानव-जाति के लिए कल्याणकारी क्यों न माने ? निर्गुण की साधना इतनी कठिन है कि प्रत्येक मनुष्य उसमें सफल नहीं हो सकता। उसमें तो सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता होती है, जो कि प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ नहीं है और सगुण की उपासना सरलता से हो सकती है, क्योंकि उसमें अन्य सरलताओं के साथ ध्यान के लिए आकार की सुविधा भी है और उस उपासना से परम श्रेय की उपलब्धि भी सम्भव है तो उसे न करने का भी कोई कारण नहीं है।

फिर भी कोई कहे कि निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है तो उसी की उपासना करनी चाहिए, असत्य की उपासना क्यों करें ? तो उसका समाधान यह होगा कि 'न करने से कुछ करना अच्छा है।' अनेक विचारक और ऋषियों की मान्यता रही है कि सगुण ब्रह्म भी असत्य नहीं है। क्योंकि सगुण की उपासना निर्गुण को ही प्राप्त होती है। मानलीजिए एक गढ़ा है, उसका मुख मिट्टी आदि से बन्द है, परन्तु उसमें एक ऐसी नली लगी है, जिसका मुख ऊपर दिखाई देता है। उस नली में जल डालें तो वह उस गढ़े में ही पहुँचेगा।

सगुण से निर्गुण की प्राप्ति

सगुण की भक्ति करते-करते मनुष्य उस विकार-रहित अवस्था में पहुंच जाता है, जिसमें धीरे-धीरे करके रूप का अभाव होने लगता है। उसे न तो अपने रूप का ध्यान रहता है न अन्य के रूप का। उसका चित्त भगवान् के नाम की रट लगाता हुआ व्यग्रता से भगवान् को प्राप्त करने की आकांक्षा में रहता है, वह अपने भगवान् में ही लीन हो जाता है। उस अवस्था में जो रूप

उसके ध्यान में रहता है, वह स्वतः ही अन्तर्धान होकर साधक को निराकार ब्रह्म की अनुभूति के निकट ले पहुँचता है। तब उसे किसी भी रूप से मोह या लगाव नहीं रहता और वह श्रद्धा-विश्वास के बल पर निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है यही परम श्रेय है। इसी की आकांक्षा निर्गुण ब्रह्म के उपासक करते हैं, परन्तु वे उसे प्राप्त करने में इतने सफल नहीं होते, जितने कि सगुण उपासक सफल होजाते हैं। उन्हें तो यही विश्वास रहता है—

राम राम रटते रहो, जब लगि घट में प्रान।
कबहु तो दीनदयाल के, भनक पड़ैगी कान॥

और सचमुच भनक पड़ती ही है। अब तक कितने ही भक्त अपने निस्पृह भाव से भगवान् को प्राप्त होगए और कितने ही भक्तों को मोक्ष की प्राप्ति होकर जन्म-मरण से छुटकारा मिल गया आज भी उन भक्तों की कमी नहीं है जो भगवान् की अनन्य भक्ति में लीन रहते हैं। उन्हें न परिवारीजनों से मोह है, न अपने शरीर से ही कुछ लगाव। भक्ति के मार्ग में चलते हुए विभिन्न प्रकार के कष्ट उठानी वे अपना सौभाग्य समझते हैं।

प्रतीक रूप में अपने भगवान् को देख कर भक्तों का मन आनन्द की तरंगों में नाच उठता है। उनके हृदयों में अलौकिक उल्लास, अद्भुत उत्साह और प्रभु-प्राप्ति का विश्वास भर जाता है। भक्त जानता है कि भगवान् उसकी मनोकामना अवश्य पूर्ण करेंगे। क्योंकि वह उनके स्वभाव, उनकी शक्ति और भक्तों पर की जाने वाली परम्परागत कृपा से अनभिज्ञ नहीं है। उसे भगवान् के यह शब्द सदैव स्मरण रहते हैं—

मोकूँ लागत निज जन प्यारे।
सन्तजनन की रच्छा-हित मैं भौतक असुर सँहारे।
संकट सकल टारि तव दैहों क्यों तुम साहस हारे॥

इसी विश्वास के बल पर गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी प्रभु की प्रतिमा को मुरली धारण किये हुए देख कर भक्तिभाव पूर्वक निवेदन किया था—

कहा कहौं छवि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै धनुष-बाण लेउ हाथ॥

और भक्त के ऐसे परम प्रेम और अभूतपूर्व आग्रह ने भगवान् की उस अचल प्रतिमा को भी हिला दिया और भक्त की टेक रखने के लिये उन्हें मुरली छोड़ कर धनुष-बाण लेना ही पड़ा।

प्रतिमाओं में भगवान् का निवास

इससे यह मान्यता मिथ्या नहीं है कि इन भगवत्-प्रतिमाओं में साक्षात् भगवान् का निवास है। परन्तु, उनका दर्शन करने के लिए हमारे मनों में परम लालसा होनी चाहिए और साथ ही होने चाहिए वे नयन जिनमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम का अमृत-नीर भरा हो। वे अँखियाँ, जो यथार्थ रूप से हरि-दर्शन की प्यासी हों। वे लोचन, जो कमल लोचन के अद्भुप रूप को अपने में भर लेने, अपने में समेट कर बन्द कर लेने के लिए लालायित हों।

और ऐसी दृष्टि का होना कोई सरल कार्य नहीं है। यह तो विरले मनुष्यों में, खोजने पर ही मिलेगी। जिन गोपियों के पास ऐसी दृष्टि थी, उनके पाप-पुण्य दोनों का ही क्षय होगया और वे मोक्ष को प्राप्त हो गई थीं। भागवत (१०।२६।६-१०) के अनुसार—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्ध विनिर्गमाः।
कृष्णं तदभावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥

दु:सहप्रेष्ठ विरह तीव्र तापधुता शुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीण मंगलाः ।।

अर्थात्—कुछ गोपियों को उनके पतियों ने घर में बन्द कर दिया, जिससे निकलने का कोई मार्ग न रहा। तब उन्होंने प्रियतम कृष्ण की मानसिक भावना करके नेत्र मूँद लिये और उनका ध्यान करने लगीं। उस समय उनके पाप-पुण्य सम्बन्धी प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो गया था। क्योंकि प्रियतम श्रीकृष्ण के दु:सह वियोग के तीव्र ताप का दु:ख भोगने से उनके पापों का क्षय होगया और भगवान् श्री कृष्ण की मानस मूर्ति का आलिंगन सुख प्राप्त होने से पुण्य क्षीण होगये। इस प्रकार अत्यन्त विरह के सन्ताप और प्रियतम-मिलन के परमानन्द का सुख प्राप्त कर एक साथ ही पाप-पुण्य रूपी कर्मों का क्षय होजाने से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होगई। श्री मद्‌भागवत के अनुसार—

भक्त्यावेश्य मनोयस्मिन्वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।
त्यजन्कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ।।

अर्थात्—जो योगी भक्ति पूर्वक मन लगा कर वाणी से मेरे नाम का कीर्तन करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह काम-कर्म से मुक्त होजाता है अर्थात् उसके प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं।

भक्त और भगवान् में परस्पर भक्ति

कुछ विद्वानों ने भक्ति को पांच भावों में विभक्त किया है—दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव, शान्त भाव और माधुर्य भाव। इनमें से प्रथम तीन का विवेचन पहले किया जा चुका है। शान्त भाव में मन को सभी रागों से उन्मुक्त और भगवान में दढ़ता पूर्वक लगाया जाता है। वात्सल्य आदि भावों में भी शांत

भाव का समावेश रहता है। माधुर्य भाव बहुत कठिन माना जाता है, क्योंकि इसमें परमात्मा के प्रति कान्त अनुराग समाविष्ट रहता है। इसमें साधक परम प्रेम में निमग्न रह कर पति रूप मान्यता के साथ रसिकता के द्वारा ही भगवान् को प्राप्त करता है।

और भगवान् भी भक्त के प्रेम को ही देखते परखते हैं। उन्हें प्रेम के अतिरिक्त चाहिये भी क्या ? 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४।११) अर्थात् 'जो जिस प्रकार मेरी भक्ति करते हैं, मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूं।' यह प्रभु-वाणी कभी निष्फल नहीं होती क्योंकि—

सब कर्मन तजि कीजिए, साँची भक्ति महान्।
सदा द्वार ठाड़े रहैं, भक्तन के भगवान्॥

यही बात गीता भी कहती है—'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज, अर्थात् 'सभी धर्मों का आश्रय छोड़ कर एक मात्र मेरी ही शरण में आ।' और भक्त तो भगवान् के उक्त निर्देश को जाने चाहे न जाने, स्वयं ही उनकी शरण में जाता है। वह जानता है कि उसे अपने भगवान् के अतिरिक्त अन्यत्र आश्रय मिलेगा भी कहाँ ?

भक्ति की अवस्थाएं

आचार्यों ने भक्ति की चार अवस्थाएँ प्रमुख रूप से स्वीकार की हैं—(१) कोमल भाव, (२) तीव्र भाव, (३) ज्वलन्त प्रेम और (४) उत्कृष्ट अनुरक्ति। इनका पृथक्-पृथक विवेचन इस प्रकार किया जाता है—

कोमल भाव—भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में इसकी विद्यमानता रहती है। वैसे तो भक्त का हृदय सभी अवस्थाओं में

कोमल रहता है, परन्तु इस अवस्था में विशेष कोमलता की अनुभूति रहती है। क्योंकि चित्त में बाह्य विषयों से पूर्ण विरक्ति नहीं हो पाती और सांसारिक व्यक्तियों से भी सम्बन्ध की अधिकता रहती है। इस कारण दया आदि के उद्भव से दयार्द्रता के साथ कोमलता का भाव भी अधिक रहता है। परन्तु यह भाव भक्ति की तीव्रता में उस रूप में नहीं रहता और उस अवस्था में भक्त को भगवान् के प्रति और कुछ भी नहीं सूझता। यहाँ तक कि वह अपने शरीर के प्रति भी उतना उदार नहीं रह पाता, जितना कि भक्ति की प्रथमावस्था में या उसके पूर्व रहता है।

तीव्र भाव—कुछ विद्वान् इसकी प्राप्ति होना भक्ति के द्वितीय स्तर में मानते हैं। इसमें भक्त भगवान् की प्राप्ति के लिए पहले की अपेक्षा कुछ अधिक आकांक्षा रखता है और तब उसके हृदयगत भावों में भी तीव्रता आ जाती है। उसकी लगन उसे प्रेरित करती है निश्चल भक्ति के लिए। उस अवस्था में जब भक्ति की प्रखरता साधक को हरि-भक्ति में लीन होने के उद्देश्य से आगे बढ़ाती है।

ज्वलन्त प्रेम—यह साधक के तीव्र प्रेम को अवस्था है। इसमें वह बहुत आगे बढ़ गया होता है। उसे भगवान् के स्मरण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सूझता। वह जानता है कि मैं अपने प्रेम के बल पर ही भगवान् को प्राप्त कर सकता हूं और यही विश्वास उसे संसार की निस्सारता का ज्ञान करा देता है। तब उसका अनुराग उमड़ कर केवल भगवान् के चरण कमलों में लीन कर देना चाहता है। वह डूबने-उतराने लगता है उस प्रेम-रस के महान् सागर में, जिसमें अमृत हा अमृत भरा है और जो डूब जाने पर भी नवजीवन प्रदान करने में समर्थ है। क्योंकि—

प्रेम न जानें जीवव क्या है, मरना-तरना।
बैठा है विश्वास संजाये,प्रियतम चरना-सरना।।

प्रेमी नहीं देखता कि उस प्रेम-मार्ग में चलने से जीवन बचेगा या मरण ही हो जायगा। उसे यह भी चिन्ता नहीं कि मरने पर उसकी क्या गति होगी ? उद्धार होगा अथवा नहीं ? वह तो अपने प्रियतम के चरणों की शरण लेकर उसी पर विश्वास किये बैठा रहता है कि वह स्वयं ही उसके दुःख-सुख का ध्यान रखेगा।

उत्कृष्ट अनुरक्ति—यह भक्ति की पूर्ण अवस्था में होती है। उस समय भक्त को यह ज्ञान ही नहीं रहता कि भगवान् के अतिरिक्त कहीं कुछ अन्य वस्तु है भो या नहीं ? उस समय उसका मन नितान्त निर्विकार भाव को प्राप्त होकर बाह्य विषयों से अनभिज्ञ होजाता है। यहाँ तक कि उसे अपने शरीर का भी कुछ पता नहीं रहता। क्या पहन रहा है ? क्या खाया है ? किधर चल रहा है ? इत्यादि बातों को भी भूल जाता है। उसे तो सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दिखाई देता है। 'व्यत्यस्त-वस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः' (भागवत १०।२६।७) अर्थात् 'कुछ गोपियाँ उलटे-पुलटे वस्त्र और आभूषण धारण करके भगवान् श्री कृष्ण के पास जा पहुँचीं।' यह उन व्रज-गोपियों के उत्कृष्ट अनुराग का ही स्वरूप है। क्योंकि—

उत्कट प्रेमासक्ति में, तन कौ रहै न ध्यान।
प्रेमी हिरदय होत है, सदा पीय कौ भान।।

उत्कृष्ट प्रेम में विभिन्न अनुभूतियाँ

जब मनुष्य का प्रेम धीरे-धीरे दृढ़ होता हुआ अपनी उत्कृष्ट अवस्था में पहुँचता है तब उसे चित्तवृत्तियों के बाह्य विषयों से

विमुख होने और बुद्धि का नियंत्रण हट जाने के कारण विभिन्न अनुभूतियां होने लगती हैं। कभी उसे प्रतीत होता है कि प्रियतम सामने खड़ा है, तो उस अनुभूति के कारण शरीर पुलक उठता है। उसके नेत्रों में प्रेमाश्रु झलक आते हैं और प्रसन्नता की पराकाष्ठा होने से उन्मुक्त रूप से हँसी आने लगती है। यदि प्रियतम आँखों से ओझल हो जाता है तो वह उसके वियोग में रोने और अश्रुपात करने लगता है। उसके शरीर से पसीना छूटने लगता है और कभी-कभी उसे मूर्च्छा भी आ जाती है।

उत्कृष्ट प्रेम के आठ अनुभाव

प्रेम की उस स्थिति में साधक को जो अनुभूतियां होती हैं, उनके फल स्वरूप आठ चिन्ह प्रमुख रूप से दिखाई देते हैं— (१) पुलकन, (२) कम्पन, (३) अश्रु पात, (४) हास्य, (५) रुदन, (६) स्वर भंग, (७) स्वेद-स्राव, और (८) मूर्च्छा। ज्ञानीजनों ने इनका विवेचन इस प्रकार किया है—

शरीर में पुलकन

यह किसी प्रकार की अभूतपूर्व वस्तु की उपलब्धि होने पर होती है। आनन्द की अवस्था में भी शरीर पुलकायमान होजाता है। 'तन पुलकित मुख वचन न आवा, नयन मूँदि चरनन सिर नावा' (तुलसी. बा. कां.) यह आनन्द की ही अवस्था है, जो कि स्वाभाविक रूप से होजाती है।

शरीर में कम्पन

कम्पन यद्यपि भय अथवा अधिक परिश्रम के कारण होता है, परन्तु प्रेम में भय का तो अस्तित्व ही नहीं होता और परिश्रम जो होता है उसकी प्रेमी को चिन्ता नहीं होती और इसीलिए वह

परिश्रम करता हुआ भी उससे होने वाले कष्ट पर उपेक्षा पूर्वक ध्यान नहीं देता। इसलिए प्रेमो के कम्पन का कारण उन दोनों में से कोई भी न होकर हर्ष से जो पुलक उत्पन्न होती है, उसकी तीव्र अवस्था में कम्पन भी हो सकता है। वस्तुतः यह लक्षण संवेगात्मक दशा में होता है। उस समय प्रेमी को यह भी ज्ञात नहीं रहता कि उस अवस्था का कारण क्या है? यद्यपि योगाभ्यास में भी ऐसी अवस्था उत्पन्न होजाती है परन्तु उसका कारण संवेगात्मक कम और परिश्रमात्मक अधिक होता है।

नेत्रों से अश्रुपात

यह भी प्रेम के एक संवेग के कारण ही होता है। प्रेम में जब आनन्द का सम्मिश्रण होता है, तब उससे संवेग की उत्पत्ति होकर आंखों से आंसू निकलने लगते हैं। धनुष यज्ञ के प्रसंग में तुलसीदास जी का निम्न दोहा भगवान् राम के प्रेम में विभोर हुई सीता जी की दशा का स्पष्ट वर्णन करता है—

देखि देखि रघुवीर तन, सुर मनाव धरि धीर।
भरे विलोचन प्रेम-जल, पुलकावली शरीर॥

अर्थात्—(सीता जी) श्री रामचन्द्र जी के (सुन्दर शरीर की ओर) देख-देख कर धैर्य धारण किये हुए देवताओं को मना रही हैं। उस समय उनका शरीर पुलकायमान होरहा है और नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आये हैं।

हास्य

संघर्ष के पश्चात् अथवा सहसा किसी कार्य में सफलता प्राप्त होजाने पर हर्ष की उत्पत्ति होती है। इसके फल स्वरूप वक्षस्थल फूल जाता है, चेहरा खिल उठता है तथा उस पर मुसकान और हास्य के लक्षण दिखाई देते हैं। आंखों में चमक आ

जाती है और प्रियतम के मिलन की इतनी प्रगाढ़ प्रसन्नता होती है कि प्रेमी उछलता, कूदता, नाचता, गाता और ताली बजाता है।

हर्ष की तीव्रता होने पर उन्मुक्त हास्य या अट्टहास करना भी सम्भव है। उस समय उसकी उन्मत्त जैसी अवस्था होजाती है और उसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि वह क्यों हँस रहा है ?

रुदन

प्रेमी जब अपने प्रियतम को प्राप्त करने में असफल रहता है अथवा मानसिक चिन्तन में देख नहीं पाता, तब उसे बड़ी निराशा होती है और वह निराशा जब व्याकुलता में परिवर्तित होजाती है तब वह रोने लगता है। उसकी हिलकियां बँध जाती हैं। उस अवस्था में उसके मुख से कोई युक्ति संगत बात भी नहीं निकल पाती। कभी-कभी ऐसी दशा होजाती है कि मुख से बोल तो नहीं निकलता, परन्तु हिचकियां आने लगती हैं।

स्वर-भंग

रोते-रोते स्वर-भंग तक होजाता है। गले की आवाज बदल जाती है, अथवा बिल्कुल ही नहीं निकलती। कभी-कभी असफलता से क्रोध भी आ जाता है और उस अबस्था में आवाज भारी और कर्कश होजाती है।

यही नहीं, हर्ष के कारण गाते-गाते भी स्वर में परिवर्तन आने लगता है। यद्यपि हर्ष में आवाज मधुर और लयात्मक निकलती है, फिर भी गले से अधिक परिश्रम लिया जाने के कारण स्वर-नलिका पर जो जोर पड़ता है, उससे आवाज बैठ जाती है।

स्वेद का स्राव

अधिक परिश्रम या क्लान्ति के कारण शरीर से स्वेद का स्राव होने लगता है। बहुत बार भय, क्रोधावेश या अन्य कारणों से भी पसीना चूने लगता है। योगासनों और प्राणायाम के अभ्यास में भी पसीना निकलने की स्थिति आ जाती है। प्रेम की असफलता भी इसका एक कारण बन सकती है।

प्रेम में बुद्धि के अनियन्त्रित होने से मस्तिष्क पर अधिक दबाव पढ़ता है, जिससे शरीर में उष्णता बढ़ कर स्वेद निकल सकता है। वैसे, सामान्य रूप से पसीना का निकलना शरीर की एक स्वाभाविक क्रिया है, परन्तु भक्ति के क्रिया-कलापों के कारण उस क्रिया में वृद्धि होजाती है।

मूर्च्छा

प्रेम से उत्पन्न तीव्र संवेगावस्था में मनुष्य अपनी संज्ञा खो सकता है, जिसके कारण उसके लक्षण मूर्च्छित जैसे होजाते हैं। वस्तुतः प्रेम की तीव्रता में एक प्रकार का ऐसा उन्माद रहता है कि प्रेमी को प्रियतम के अतिरिक्त किसी अन्य की बात सुनना भी अच्छा नहीं लगता। क्योंकि उस समय वह अपने प्रियतम के प्रेम में इतना मग्न होजाता है कि उसे उसी को देखने या उसी की चर्चा कहने-सुनने में आनन्द आता है।

यदि कोई भक्त मूर्च्छित हो गया हो तो यही समझना चाहिए कि वह भगवान् के प्रेम में इतना लीन है कि उसे बाह्य जगत का कुछ ज्ञान ही नहीं रह गया है।' हरे रामा हरे रामा राम-राम हरे-हरे' इत्यादि की रट लगाए हुए जो लोग हरि-नाम संकीर्तन करते हैं, वे उसमें लीन होकर गाते-नाचते हुए इतने उन्मत्त होजाते हैं कि उन्हें यह ज्ञान ही नहीं रहता कि उनके

समीप का वातावरण कैसा है अथवा वहाँ क्या हो रहा है? जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन का समाचार सुनते ही राधा की दशा हुई—

माधौ मथुरा जात हैं, गयौ लिवउआ आइ।
परी धरनि सुनि राधिका, सब सुध-बुध विसराइ॥

इस प्रकार उत्कृष्ट प्रेम के कारण उत्पन्न होने वाले संवेगों के लक्षण रूप उक्त आठों भाव प्रेमी को दिव्यता प्रदान करता है। उस समय उसकी भक्ति अपनी उच्च अवस्था को प्राप्त होकर भक्त को कृतकृत्य बना देती है। भागवत का वचन है कि 'वे भक्तजन धन्य हैं जो कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी उल्लास में भर कर परलोक की रहस्यमय वार्ता करते हैं कभी दिव्य भावना के वशीभूत होकर ऐसा नृत्य करने लगते हैं कि वाणी उसका वर्णन करने में असमर्थ रहती है। कभी भगवान् के गुणों और यशों का गान करते और कभी उनकी क्रियाओं का अनुकरण करते हुए वैसा ही रूप बना लेते हैं और कभी मौन बैठे रह कर उस परमानन्द का अनुभव करने लगते हैं।

ऐसे भक्तों को भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की चाह नहीं होती। क्योंकि वे साँसारिक विषयों को छोड़ कर भगवान् में ही चित्त लगाये होते हैं। रामचरित मानस में शिवजी भी पार्वतीजी के प्रति ऐसा ही कहते हैं -

उमा राम सुभाउ जिन जाना।
तिन्हहिं भजन तजि भाव न आना॥

अर्थात्—हे पार्वती! जिन भक्तों ने भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के भक्त-वात्सल्य युक्त कृपालु स्वभाव को जान लिया, उन्हें भजन के अतिरिक्त कोई अन्य बात नहीं सुहाती।

और ऐसा भक्त अपने उस भजन के प्रताप से ही परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है। जैसे दूध में जल मिला दिया जाय तो

जल का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता है और पूर्ण रूप से दूध ही बन जाता है, वैसे ही हरि भक्त अपने भगवान् को प्राप्त होजाता है तब उनमें ऐसा मिल जाता है, कि फिर कभी पृथक् नहीं होता।

मोक्ष के चार प्रकार

भगवान् की प्राप्ति के भी चार प्रकार हैं। जिसकी जैसी भक्ति होती है, वह उसी के अनुसार उन प्रकारों में से किसी एक को प्राप्त होता है। जैसे खेत में चने का बीज डालने से चना और गेहूं का बीज डालने से गेहूं ही उत्पन्न होता है, चने के बीज से गेहूं या गेहूं के बीज से चना उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे ही भक्ति के अनुरूप ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

मोक्ष के चार भेद यह हैं—(१) सालोक्य, (२) सामीप्य, (३) सारूप्य, और (४) सायुज्य। इनमें सालोक्य मुक्ति वह है, जिसमें साधक को विष्णुलोक का निवास प्राप्त होता है। सामीप्य मुक्ति को प्राप्त करने वाला उपासक भगवान् की समीपता प्राप्त करता हुआ उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार कि अपने स्वामी के समीप कोई सेवक उपस्थित रहे। सारूप्य मुक्ति में भक्त को भगवान् के समान रूप की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जैसे कि कोई दो भाई एक ही रूप के हों। सायुज्य मुक्ति में भक्त भगवान् में जाकर वैसे ही मिल जाता है जैसे दूध में जल। उस समय उसका गुण, स्वभाव सब कुछ परमात्मा में जा मिलता है। यही मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट रूप है। भक्तियोग की परमावधि रूप इस मोक्ष को ही परम श्रेय की प्राप्ति कहते हैं।

सालोक्य मुक्ति का स्वरूप

विष्णुलोक या स्वर्गादि लोकों में निवास भी श्रेष्ठ कर्मों के प्रभाव से ही होता है। परन्तु वह निवास सावधिक होता है।

जैसा पुण्यफल होता है, वैसा ही स्थान और पुण्यफल के ही अनुरूप उसकी अवधि होती है। वहां रहते हुए भी यदि किसी प्रकार का विकार-दोष उत्पन्न होजाता है तो वह अवधि चाहे जब समाप्त की जा सकती है और पुण्य फल का क्षय होने पर तो जीव को वहां से गिरना ही होता है।

राजा ययाति का उपाख्यान

इस विषय में राजा ययाति का उपाख्यान प्रसिद्ध है कि उन्हें देवलोक में निवास करते-करते ही कुछ अभिमान होगया तो उन्हें वहां से तुरन्त ही मर्त्यलोक में फेंक दिया गया। महाभारत के अनुसार—

अथैत्य पुरुषः कश्चित् क्षीणपुण्यनिपातकः।
ययातिमब्रवीद् राजन् देवराजस्य शासनात् ॥
अतीव मदमत्तस्त्वं न कञ्चिन्नावमन्यसे।
मानेन भ्रष्टः स्वर्गस्ते नार्हस्त्वं पार्थिवात्मज ॥

—उद्योग पव १२१।६-७

अर्थात्—हे राजन्! तभी पुण्य से क्षीण हुए जीवों को देवलोक से नीचे गिराने वाला कोई पुरुष इन्द्र की आज्ञा से वहां आकर ययाति से बोला कि हे राजपुत्र! तुम अत्यन्त मदमत्त होगए हो और यहाँ ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसका तुम तिरस्कार न करते हो। इसलिए तुम यहां रहने के योग्य न होने के कारण, अपने मान (अहंकार) से ही अपने स्थान से भ्रष्ट होरहे हों।

तब स्वर्ग से गिरते हुए राजा ययाति अपने चार दौहित्रों के मध्य में जा ठहरे। तभी वहाँ मुनिवर गालव आगए और उन्होंने कहा—'तपसो मेऽष्टभागेन स्वर्गमारोहतां भवान्' अर्थात् 'आप मेरी तपस्या का आठवाँ भाग प्राप्त करके उसके प्रभाव से स्वर्ग लोक में जा पहुँचें।' यह कहते ही राजा ययाति भूतल का स्पर्श न करके ऊपर की ओर उठने लगे।

इसके पश्चात् ययाति के चारों दौहित्रों ने अपने-अपने पुण्य-फलों से उन्हें सम्पन्न कर दिया। उन्हें जैसे जैसे अपना-अपना पुण्यफल उन्हें दिया, वैसे-वैसे ही वे स्वर्गलोक की ओर चढ़ते चले गए। इस प्रकार राजा ययाति के दौहित्रों ने अपने यज्ञ-दानादि से उत्पन्न धर्म के प्रताप से अपने मातामह ययाति को पुनः स्वर्गलोक की प्राप्ति करा दी। वहां पहुँचने पर देवर्षियों, राजर्षियों और चारणादि ने उनका स्तवन किया। तत्पश्चात् राजा ययाति ने पितामह ब्रह्माजी से जिज्ञासा की कि 'भगवन्! मैंने हजारों वर्ष तक अनेकानेक यज्ञों और विभिन्न प्रकार के बड़े-बड़े दानों के द्वारा जिस पुण्यफल का उपार्जन किया था और प्रजापालन रूपी धर्म के द्वारा उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि की थी, वह सब अल्प समय में ही कैसे नष्ट होगया? और मुझे किस कारण नीचे गिरा दिया गया?

ब्रह्माजी बोले—'राजन्! तुम्हारा सम्पूर्ण पुण्यफल अभि-मान रूपी दोष के कारण नष्ट होगया था, और इसीलिए तुम्हें नीचे गिराया गया था। तुम्हारा अभिमान ही तुम्हारे प्रति स्वर्ग वासियों को धिक्कार का कारण बना था।' क्योंकि—

नायं मानेन राजर्षे न बलेन न हिंसया।
न शाठ्येन न मायाभिर्लोको भवति शाश्वतः॥

—उद्योग पर्व १२३।१६

अर्थात्—'हे राजर्षे! यह पुण्यलोक न तो अभिमान से प्राप्त होता है, न बल से ही। हिंसा अथवा शठता में भी इसे प्राप्त नहीं करा सकती और न किसी प्रकार की माया ही इसे स्थिर रख सकती है।'

इस प्रकार सालोक्य मुक्ति का अधिकारी भक्त दिव्य लोक अथवा भगवान् के लोक को प्राप्त करता है। परन्तु उन लोकों

के आनन्द भगवान् की प्राप्ति के समान परमानन्द दायक नहीं हैं। इसलिए भगवान् का अनन्य भक्त तो भगवान् को ही चाहता है, उनके लोक अथवा उस लोक के आनन्द की कामना नहीं करता।

सामीप्य मुक्ति

सामीप्य मुक्ति में यद्यपि भगवान् के समीप रहने का सौभाग्य प्राप्त होता है और अनेक भक्तों की कामना भी रहती है कि वे अपने भगवान् से एक निमेष के लिए भी न बिछुड़ें, तथापि वे भक्तगण ही उस समीपता को प्राप्त होते हैं, जो भगवान् के लिए प्रिय तो हों, परन्तु उन्होंने सारूप्य या सायुज्य मुक्ति की योग्यता प्राप्त न की हो।

भगवान् की प्रियता अनेक प्रकार के भक्त और उपासक प्राप्त कर लेते हैं। भगवद्‌गीता में भगवान् की प्रसन्नता या प्रियता प्राप्त करने वाले अनेक प्रकार के भक्तों का वर्णन मिलता है। जैसे—(१) सन्तुष्ट, संयत आत्मा, दृढ़ निश्चय वाला तथा अर्पित बुद्धि वाला, (२) किसी को उद्वेगित न करने वाला और स्वयं भी किसी के द्वारा उद्वेगित न होने वाला तथा हर्ष, अमर्ष, भयादि उद्वेगों से रहित रहने वाला, (३) आकांक्षा-रहित, शुद्ध, पूर्णकाम, उदासीन, दुःखों से मुक्त और सब प्रकार के आरम्भों को त्याग देने वाला, (४) हर्ष, शोक, द्वेष, आकांक्षा और शुभ-अशुभ का त्यागी एवं भक्ति-सम्पन्न, (५) शत्रु-मित्र, मान-अपमान, गर्मी-सर्दी, सुख-दुखादि में समान भाव रखने वाला, सब प्रकार की आसक्तियों से रहित, निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील, सब प्रकार से सन्तुष्ट, घर के प्रति ममता-रहित, स्थिर बुद्धि वाला तथा भक्ति युक्त भक्त। इनके अतिरिक्त अन्यान्य प्रकार के भक्त भी, जो कि यज्ञ, दान,

ईश्वर-पूजन, आतिथ्य-सत्कार, परोपकार आदि कार्यों में लगे रहते हैं, भगवान् के लिए प्रिय होते हैं। इसी के फल स्वरूप उन्हें सालोक्य, सामीप्य एवं सारूप्य आदि की प्राप्ति होती है।

और प्रेम-दीवानी गोपियाँ भी अपने विशुद्ध प्रेम के बल पर भगवान् का सामीप्य चाहती थीं। उन्हें सारूप्य या सायुज्य मोक्ष की अभिलाषा नहीं थी। उनका कथन था—

भक्ति-जुक्ति नहिं जानतीं, नहीं मुक्ति की चाह।
सदा-सदा पिय-सँग रहें, सांच प्रेम की राह॥

इसी प्रकार के बहुत-से भक्तों की यही कामना रही है कि उन्हें भगवान् की सेवा में रहने का सुअवसर मिल सके और वे सब अपनी उसी कामना के अनुसार सामीप्य मुक्ति का लाभ प्राप्त कर सके। ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार 'स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्' अर्थात् 'जिसने ईश्वर को जान लिया वह इस लोक से उठ कर स्वर्ग लोक में ब्रह्म के साथ स्थित हुआ सभी दिव्य भोगों और अमृतत्व को प्राप्त होता है।

सारूप्य मुक्ति

इसमें भक्त को भगवान् के समान रूप की प्राप्ति होती है। इसका एक कारण मरण-काल में भगवान् के रूप का ध्यान होना भी है, जो कि किन्हीं पूर्व जन्मों के पुण्य-फल स्वरूप ही होसकता है। गीता (८।५) से इसकी पुष्टि होती है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

अर्थात्—जो पुरुष अन्तकाल में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।

श्री मद्भागवत में अजामिल नामक एक निन्दित वृत्ति अधम ब्राह्मण की कथा मिलती है, जिसके अनुसार अशुभ कर्मों को करने वाले एवं भगवान् की भक्ति से रहित अजामिल के पुत्र का नाम नारायण था और उसने मरण-काल में अपने पुत्र को नारायण नाम से पुकारा तो उस नाम के प्रभाव से ही वह पूर्ण-रूप से पाप-रहित होकर भगवान् के समान दिव्य देह धारण करके दिव्य यान द्वारा भगवान् के समीप पहुँच गया। गीता (१४।१६) के अनुसार—

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा दृष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

अर्थात्—जब द्रष्टा (एकीभाव से स्थित साक्षीपुरुष) तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्त्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से परे मुझ परमेश्वर को तत्व से जानता है, तब वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्त्ता न देखने का अभिप्राय यह है कि वह पुरुष गुणों को ही गुणों में वर्तते हुए देखता है। यदि इसका भी अर्थ स्पष्ट किया जाय तो यह समझना चाहिए कि त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न हुए अन्तःकरण के सहित इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में विचरण करना ही है। तात्पर्य यह हुआ कि जब मनुष्य को ऐसा ज्ञान होजाय कि मनुष्य शरीर त्रिगुणात्मक है और उन गुणों से ही इन्द्रियाँ अन्तःकरण के सहित अपने अपने विषयों में विचरती हैं, परन्तु, आत्मा और परमात्मा उन तीनों गुणों से परे है। ऐसा ज्ञान होने पर आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होजाता है और यदि यह ज्ञान मनुष्य को मरण-काल में भी रहे तो उसे सारूप्य की प्राप्ति हो सकती है।

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और त्रिगुणात्मिका माया, दश इन्द्रियां, एक मन, पांचों इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (स्थूल शरीर का पिण्ड) चेतना और धृति यह सविकार क्षेत्र कहा जाता है। यह क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय (परमात्मा का जानने योग्य स्वरूप), इन सबको तत्व से जान ले तो 'मद्भावाय उपपद्यते' अर्थात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। (गीता १३।१८)

यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि मरण-काल में मनुष्य को उक्त प्रकार का तत्वज्ञान हो ही सके। परन्तु उस समय मन में बहुत कुछ विकार-रहितता उत्पन्न होजाती है और अपना अन्तिम काल जान कर मनुष्य को कुछ पश्चात्ताप भी होने लगता है कि 'मैं जीवन भर कुछ नहीं कर सका, अब उद्धार कैसे होगा ?' उसका वह परिताप ही उसके चित्त को विकार-रहित बनाने में सहायक होता है। इसके साथ ही यदि परमात्मा के प्रति श्रद्धा-भक्ति से सम्पन्न बुद्धि का प्राकट्य होजाय तो उसे मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ नहीं रहती।

भगवान् के साथ वैर करने वाले व्यक्तियों को भी सारूप्य की प्राप्ति सुलभ होती है। क्योंकि वे सोते, बैठते, खाते, पीते, चलते, फिरते, सब समय भगवान् का शत्रु भाव से चिन्तन करते रहते हैं। श्री मद्भागवत (११।५।४७) के अनुसार इसकी स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपाल पौण्ड्र-
शाल्वादयो गति विलास विलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥

अर्थात्—जब शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व आदि राजागण सोते, बैठते आदि में भी भगवान् का वैर-भाव से ध्यान करते थे

इसलिए भगवान् की गति, कटाक्ष और विलास आदि में उनकी बुद्धि उसी रूप की होजाने से सारूप्य मुक्ति को प्राप्त होगए, तब उनमें अनुराग बुद्धि वालों का तो कहना ही क्या है ?

सायुज्य मुक्ति

इसकी प्राप्ति भगवान् के प्रति अनन्य भाव से होती है। अनन्य भाव की उत्पत्ति पराभक्ति से होती है। पराभक्ति को ही परम नैष्कर्म्य सिद्धि या परम सिद्धि भी कहते हैं। यही तत्व-ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसके विषय में गीता (१८।५५) में बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्तश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

अर्थात्—जो भक्त पराभक्ति के द्वारा मुझे और मेरे प्रवाह को भले प्रकार जान लेता है, वह उस तत्व ज्ञान के प्रभाव से ही तत्काल मेरे में प्रविष्ट होजाता है।

देवी भागवत के अनुसार—'चेतसः वर्तनं चैव तैलधारा समं सदा' इत्यादि अर्थात् 'जैसे तैल को एक बर्तन से दूसरे बर्तन में डालें तो वह अविच्छिन्न धार के रूप में गिरता है, वैसे ही भग-वान् के निरन्तर चिन्तन में लगा हुआ मन पराभक्ति की अवस्था को प्राप्त होजाता है।'

अपने प्रभु के प्रति इसी प्रकार की अविच्छिन्न अनुरक्ति के साथ चित्त और हृदय का ऐसा नित्य और अविचल भाव ही भक्त के हृदय में प्रेम का साक्षात् प्रकाश बन कर पराभक्ति का रूप धारण कर लेता है। क्योंकि उस अनुरक्ति के कारण वह भक्त एक निमेष के लिए भी भगवान् को नहीं भूल पाता। बरन् यह कहा जाय कि उसको अन्यत्र कुछ दिखाई या सुनाई ही नहीं देता तो यह कुछ अतिशयोक्ति नहीं होगी।

उस भक्त को अपने हृदय में किसी अन्य विचार के लिए स्थान देना ही कठिन होता है। उसके कान भगवन्नाम के अतिरिक्त और कुछ सुनना ही नहीं चाहते। उसके नेत्र यदि देखना चाहते हैं तो केवल अपने प्रभु का सुरम्य, सुखद मुखड़ा और जिह्वा कहना चाहती है केवल प्रभु का चरित्र। यदि उसके उस नियम में कुछ व्यवधान पड़ता है तो वह उसे सहन नहीं कर पाता और चाहे किसी से कुछ कह न पावे, परन्तु अपने चित्त में एक ऐसी व्यथा का अनुभव करता है, जिसकी उसने पहले कभी कल्पना भी नहीं की होती।

उपनिसद् और पराविद्या

उपनिषदों ने पराविद्या का वर्णन किया है, उसका उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति ही है। 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'(मुण्डक) अर्थात् 'पराविद्या के द्वारा वह अक्षर ब्रह्म जाना जाता है।' उस ब्रह्म को तत्व से जानने पर 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः' अर्थात् 'हृदय ग्रन्थि स्वयं खुल जाती है और सभी संशय नष्ट होजाते हैं।' और ऐसा होने पर 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' अर्थात् 'सभी शुभ-अशुभ कर्म नष्ट होजाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में ही कहा गया है—

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मनो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥

अर्थात्—परमात्मा में लीन होने के अधिकारी ज्ञानी पुरुष उसे प्राप्त होकर उसी में लीन होजाते हैं। क्योंकि कामना-रहित शुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषिगण ज्ञान से तृप्त एवं परम शान्ति में अवस्थित होकर परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

अध्यात्मोपनिषद् के अनुसार आत्मा ही परमात्मा है और उसकी परममोक्ष का स्वरूप आत्मा और परमात्मा का अनन्यतम होना है इसलिए उपनिषद्कार आत्मज्ञान को ही परम कल्याण-कारी मानये हैं। उनके अनुसार 'परिपूर्ण, आदि-अन्त से रहित, अप्रमेय (मापने में न आने वाला), विकार-रहित, सत्तामय, चैतन्यमय, नित्य, आनन्दमय, अविनाशी, सर्व व्यापक, एकरस, पूर्ण, अनन्त, सब ओर मुख वाला, त्याग या ग्रहण में न आने वाला, आधार-रहित, आश्रय-रहित, गुण-रहित, क्रिया-रहित, सूक्ष्म, विकल्प-रहित, स्वयं सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अनुपमेव, एक एवं अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है और कहीं कुछ नहीं है। तथा—

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
स सिद्धः ससुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि ॥

अर्थात्—इस प्रकार अपने अनुभव से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखण्डित्त जान कर तू सिद्ध हो और निर्विकल्प रूप आत्मा में निमग्न होकर सुख पूर्वक स्थिति कर।'

अन्यान्य सभी उपनिषद् इसी प्रकार आत्मा के परमात्मा में लीन होने को ही परमश्रेय मानते हैं। उस अवस्था में साधक पूर्ण भक्ति को प्राप्त होकर सब प्रकार के विषय-भोगों से निवृत्त होजाता है और आत्मज्ञान के द्वारा सभी प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है। मन्त्रिकोपनिषद् का कथन है कि 'यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् जिसमें पिरोया हुआ है, वही ब्रह्म है और जैसे सभी नदियाँ समुद्र में जाकर लय को प्राप्त होती हैं, वैसे ही सब कुछ ब्रह्म में ही लीन होता है। जैसे जल का बुलबुला जल से प्रकट होकर जल में ही लीन होजाता है, वैसे ही सब पदार्थ जिससे उत्पन्न होते, उसी में लय हो जाते हैं, उसी ब्रह्म को ज्ञानीजन देखते हैं। वह क्षेत्रज्ञ रूप में सबमें रहता है और कारणों के देखने

से जाना जाता है ऐसा जो क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है उसी को ज्ञानीजन बारं-बार देखते हैं इस प्रकार जो विद्वान् ब्राह्मण ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं और 'अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्च-व्यक्ताशलिनः' अर्थात् 'इस प्रकार ब्रह्म में लीन होकर अव्यक्त रूप से सुशोभित होते हैं।'

सत्पुरुषों का समागम ही स्वर्ग

निरालम्बोपनिषद् में उपनिषत्कार ने बन्धन और मोक्ष का जो विवेचन किया है, वह पठनीय है—'ज्ञान अर्थात् सृष्टि की सभी परिवर्तनशील वस्तुओं में एक ही अपरिवर्तनशील तत्व पाया जाता है। जो कुछ द्रष्टा और दृश्य स्वरूप है, वह यह चैतन्य ही है। यह सभी के भीतर समान रूप से रहता है और स्वयं विकार रहित है। किसी वस्तु के एक रूप से दूसरे रूप में परिवतन के अनुभव को ज्ञान कहते हैं, जैसे कि मिट्टी का घट के रूप में परिवतन होना। यह अनुभव शरीर इन्द्रिय आदि पर नियन्त्रण रखने से तथा गुरुसेवा, श्रवण, मनन और ध्यान से होता है। रस्सी में सर्प की भ्रान्ति, यह अज्ञान है। इसी प्रकार सब में पिरोये हुए सर्वरूप एक मात्र ब्रह्म में देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य, स्थावर, स्त्री, पुरुष, वर्ण, आश्रम, बन्ध, मोक्ष आदि अनेक उपाधियुक्त अनात्म वस्तुओं का जो भेद कल्पित किया जाता है वह सब अज्ञान ही है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान से जो आनन्दमयी स्थिति प्राप्त होती है, वही सुख और अनात्म विषयों का विचार दुःख कहलाता है। सत्पुरुषों का समागम ही स्वर्ग और संसारी मनुष्यों का संसर्ग ही नरक है।

बन्धन अर्थात् आदि-रहित अज्ञान की वासना द्वारा 'मैं जन्म लेता हूँ' अथवा 'मैं मरता हूं' इत्यादि जो विचार उत्पन्न होते हैं,

वे ही बन्धन हैं। इसी प्रकार माता, पिता, भ्राता, पत्नी, पुत्र, गृह, वाटिका, खेत आदि में ममता का होना--यह मेरे हैं इत्यादि संसार आवरण रूपो विचार भी बन्धन स्वरूप हैं। अणिमादि अष्ट सिद्धियों के ऐश्वर्य की प्राप्ति का संकल्प और प्रयत्न भी बन्धन ही है। कामनायुक्त संकल्पों के साथ की जाने वाली देवता आदि की उपासना, यम-नियम आदि अष्ट योगांग का संकल्प, वर्णाश्रम धर्म के संकल्प, आज्ञा, भय, संशय आदि के भाव, यज्ञ, व्रत, तप, दानादि की विधियों का ज्ञान, यहाँ तक कि मोक्ष का विचार तक एक प्रकार का बन्धन ही है।

वास्तविक मोक्ष क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसार सुखदुःखविषयसमस्त क्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः' अर्थात् 'नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार द्वारा अनित्य संसार के सुख-दुःखात्मक समस्त विषयों से ममता रूप बन्धन का नाश होजाना ही मोक्ष है।'

'सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरण-मुपगम्य तत्वमसि अहंब्रह्मास्मि सर्वखल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन्' इत्यादि (निरालम्ब उपनिषद्) अर्थात् 'सब धर्मों को छोड़ कर एवं अहन्ता और ममता को भी त्याग कर इस ब्रह्म की शरण में जाना और 'वह तू ही है' एवं 'मैं ब्रह्म हूं' और 'यह सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है' आदि महावाक्यों के द्वारा 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में रहना और स्वतन्त्र यती के रूप में व्यवहार करना। ऐसा ही मनुष्य संन्यासी कहलाता है, वही मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस, अवधूत एवं ब्राह्मण है। वह सद्गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त करके संसार में पुनः नहीं आता तथा वह पुनः जन्म नहीं लेता।

आत्मा-परमात्मा का ऐक्य

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार 'जब आत्मा और परमात्मा के एकीभाव का निश्चय होता है, तभी समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है। क्योंकि आत्मा नित्य, एकरस, सर्वव्यापी एवं सभी दोषों से रहित है। परन्तु एक होते हुए भी माया से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। यथार्थ में उसमें कोई भेद नहीं है।' ऐसा ज्ञान होने पर वह सब प्राणियों को अपने में और स्वयं को सब प्राणियों में स्थित देखता है, तब साक्षात् ब्रह्म होजाताहै। यथा—

यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः॥

अर्थात्—जब वह केवल अपने आत्मा को ही सत्य रूप में देखता हुआ सम्पूर्ण विश्व को माया की क्रीडा मात्र मानता है, तब वह पूर्ण रूप से निवृत्त होजाता है अर्थात् परमात्मा में लीन होकर पुनः जन्म धारण नहीं करता।

संसार-सागर से पार होने के लिए आत्म-ज्ञान बहुत आवश्यक है। क्योंकि जो लोग आत्मा को नहीं जानते, वे न परमात्मा को जान सकते हैं, न मोक्ष को ही। उसका कारण यही है कि आत्मा, परमात्मा और मोक्ष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उसका ज्ञान हुए बिना मनुष्य मोक्ष का उपाय ही किस प्रकार कर सकता है ? अन्नपूर्णोपनिषद् का कथन है—

कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजष्मनी।
विचारयान्तरे वेत्थं महत्तत्फलमेष्यसि॥

अर्थात्—'मैं कौन हूं ? यह किस प्रकार का अथवा क्या है ? जन्म-मरण क्यों होता है ? इस प्रकार अन्तर में विचार करना चाहिए। इससे मोक्ष रूप महान् फल की प्राप्ति होगी।

संसार-सागर से मुक्त होने का उपाय

योग कुण्डल्युपनिषद् में 'अभ्यास वासनाशक्त्या तरन्ति भव-सागरम्' कहते हुए संसार सागर से मुक्त होने का उपाय इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है—'अभ्यास और श्रेष्ठ वासना की शक्ति से ही योगीजन इस भवसागर को तैर कर पार कर लेने में समर्थ होते हैं। वाणी परा में अंकुरित होती है, पश्यन्ती में उसके दो भाग होते हैं, मध्यमा में पुष्पित होती है और वैखरी में विकास को प्राप्त होजाती है। इस प्रकार जैसे-जैसे वाणी का आविर्भाव होता है, वैसे-वैसे ही वह उसके विलोम क्रम में लय होती जाती है।

'उस वाणी का बोध कराने वाला अथवा परमदेव मैं ही हूं' ऐसा निश्चय करके जो व्यक्ति तदनुसार व्यवहार करता है, वह किसी भी निन्दा-स्तुति के शब्द में लिप्त नहीं होता। विश्व, तैजस् और प्राज्ञ, यह तीन पिण्डक के, विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर, यह तीन ब्रह्माण्ड के तथा भूः, भुवः, स्वः, यह तीन लोक के भेद हैं। जो कि अपनी उपाधि के लीन होजाने पर प्रत्यगात्मा में लीन होजाते हैं। जब ज्ञानाग्नि का ताप प्रज्वलित होता है तब ब्रह्माण्ड को भी अपने मूल रूह में विलीन होना होता है।

जब वह ब्रह्म में मिल जाता है, तब उसका कोई पृथक् रूप नहीं होता, वह ब्रह्मरूप ही होजाता है। उस समय एक ऐसा अगाध और गम्भीर रूप होजाता है कि उसे न तो प्रकाश कह सकते हैं, न अन्धकार ही। तब केवल एक सत्स्वरूप अव्यक्त तत्व ही शेष रहता है। जैसे कि घट के भीतर दीपक की ज्योति अपने अन्तःकरण में प्रकाशित होती रहती है। इसी स्वरूप में उस कूटस्थ अव्यय रूप का ध्यान करना ही श्रेयस्कर है।

आत्मा वस्तुत: अपने मूलरूप में विज्ञानमय होता है, परन्तु शरीर में आकर माया के वश से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त होकर विमोहित होजाता है। अनेकों जन्म के पश्चात् जब शुभ कर्मों का उदय होता है, तब मनुष्य के भीतर अपने विकारों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है कि वास्तव में मैं हूं कौन ? यह सदोष संसार कहां से उत्पन्न होगया ? जाग्रत् और स्वप्न की अवस्था में तो मैं स्वयं को कर्त्ता मान कर व्यवहार करता हूं, परन्तु सुषुप्ति में मेरी क्या अवस्था होती है ? इस प्रकार चिन्ता करता हुआ वह अपने आभास रूप पर विचार करता है। जैसे रुई का ढेर अग्नि से भस्म होने लगता है, वैसे ही चिदाभास अज्ञान में पड़ कर सांसारिक ताप से नष्ट होने लगता है। इस प्रकार सांसारिक ज्ञान के मिटने पर प्रत्यगात्मा विस्तार को प्राप्त होकर विज्ञान को भी नष्ट कर देता है। इस प्रकार मनोमय और विज्ञानमय के पूर्ण रूप से मिल जाने पर शाश्वत प्रकाश के समान आत्मा ही अन्तर में प्रकाशित होता रहता है। जो आत्मज्ञानी पुरुष ऐसे आत्मा का निरन्तर ध्यान करता रहता है और मरणकाल में भी उस ध्यान को स्थिर रखता है, वही जीवन्मुक्त तथा धन्य और कृतकृत्य है।

प्रणव रूप ब्रह्म

यजुर्वेद में पापों के दूर होने की इच्छा से अग्निदेव को नमस्कारादि के उपरान्त ग्रन्थ की निम्न अन्तिम श्रुति है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावदित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ॐ खं ब्रह्म।

अर्थात्—तेजमय आवरण से सत्यरूप ब्रह्म का मुख आच्छादित है। आदित्य रूप में जो यह प्रत्यक्ष पुरुष वर्तमान है, वह मैं ही हूं। यह प्रणव आकाश के समान व्यापक एवं ब्रह्म है।

इसी प्रकार 'एकं ब्रह्माहस्मीति कृतकृत्यो भवेन्मुनिः' (अन्नपूर्णोपनिषद्) अर्थात् 'मैं एक ब्रह्म हूं, ऐसा अनुभव करने वाला मुनि कृतकृत्य होजाता है।' अथवा 'ब्रह्मचिद् ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्परा' इत्यादि से 'चैतन्य ब्रह्म है, जगत् ब्रह्म है, जीवों की परम्परा ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, चैतन्य रूप शत्रु, मित्र, बांधवादि सभी कुछ ब्रह्म है। ऐसी भावना करने वाला व्यक्ति ब्रह्म ही बन जाता है और तब वह यह अनुभव करता है कि चैतन्य रूप शान्त ब्रह्म ही सवत्र विद्यमान है।'

नारायणोपनिषद् के अनुसार 'ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठ भुवनं गमिष्यति' इत्यादि से उपनिषत्कार ने स्पष्ट कर दिया है कि 'ॐ नमो नारायण' इस मन्त्र की उपासना करने वाला भक्त वैकुण्ठधाम को प्राप्त होजाता है। यह हृदयरूपी कमल विज्ञान का ही रूप है, इससे विद्यु त की आभा प्रकट होती है। ब्रह्म को ही देवकी-पुत्र, मधुसूदन, पुण्डरीकाक्ष, विष्णु एवं अच्युत आदि नामों से पुकारते हैं। वे ही नारायण सम्पूर्ण प्राणियों में विद्यमान रहते हैं। वे कारण पुरुष होते हुए भी कारण-रहित परब्रह्म हैं। विद्वज्जन अथर्व वेद के इस शिरोभाग का अध्ययन किया करते हैं।

जो व्यक्ति प्रातःकाल इस 'ॐ नमो नारायण' मन्त्र का जाप करते हैं, उनके रात्रि में किये हुए पाप मिट जाते हैं और जो रात्रि के समय या सायंकाल इसका जप करते हैं, उनके दिनभर के पाप दूर होजाते हैं। इसी प्रकार दिन के मध्य में सूर्य के आगे बैठकर इस मन्त्र का जप करने से पाँचों महापातकों और उपपातकों से छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार दिन के तीनों समय जप करने से मनुष्य पाप-रहित होजाता है। उसे सभी वेदों के पारायण का फल मिलता और वह 'नारायणसायुज्य-

मवाप्नोति' अर्थात् 'भगवान् श्री नारायण का सायुज्य प्राप्त कर लेता है।'

आत्मज्ञान से सायुज्य मोक्ष

इस प्रकार सायुज्य मोक्ष का अधिकारी वही होता है जो सब प्रकार के विषयों से परे हट कर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति करले। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि संन्यास ग्रहण करके घर से ही चला जाय। वरन् घर में रह कर भी वह निस्पृह भाव से भगवान् की अनन्य भक्ति द्वारा सायुज्य लाभ कर सकता है। अन्नपूर्णोपनिषद् ने ऐसे अधिकारी भक्त के लक्षण बताते हुए कहा है—

वाचामतीतविषयो विषयाशादशोज्झितः।
परानन्द रसाक्षुब्धो रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि॥
सर्वकर्म परित्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः।
न पुण्येन च पापेन नेतरेण च लिप्यते॥
विहरन् जनतावृन्दे देहकर्तन पूजनै।
खेदाह्लादौ न जानाति प्रतिबिम्बगतैरिव॥
निःस्तोत्रो निर्विकारश्च पूज्य-पूजाविवर्जितः।
संयुक्तश्च वियुक्तश्च सर्वाचारनयक्रमैः॥

अर्थात्—'जिसके विषय वाणी का भी उल्लंघन कर गये हैं और जो विषयों की आशामयी दशा से रहित होगया है तथा जो परमानन्द-रस के द्वारा भी क्षोभ को प्राप्त न हुआ हो, वह (योगी) अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा में ही रमण करता है। सभी कर्मों का परित्याग करके जो नित्य, तृप्त और आश्रयों से मुक्त होगया हो, वह पुण्य से अथवा पाप से या अन्य किसी भी वस्तु से लिप्त नहीं होता। वह लोगों की भीड़ में देव-कीर्तन और पूजा करता हुआ विहार करता है, तो भी मानो यह सब

कुछ प्रतिबिम्ब मात्र ही है, ऐसा समझ कर न तो खिन्नता को प्राप्त होता है और न आनन्द का ही अनुभव करता है। ऐसी स्थिति होने पर वह स्तुतियों से रहित, विकार-रहित, पूज्य की पूजा से रहित एवं सम्पूर्ण आचार तथा नीति के क्रम से संयुक्त भी रहता है और वियुक्त भी।'

वाणी से अवरणीय ब्रह्म

इसका अभिप्राय यह हुआ कि उस योगी के जो काम्य विषय हैं, वह केवल ब्रह्म की प्राप्ति से ही सम्बन्धित हैं और ब्रह्म के विषय में वाणी कुछ भी कहने में असमर्थ रहती है। इस प्रकार का भक्त आत्मा और परमात्मा के ज्ञान में लीन होता हुआ भी उसे वाणी से वर्णन नहीं कर पाता।

इन्द्रियों के विषयों को त्याग देने पर ही उसे भक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए ऐसा साधक विषयों की आशा का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है और उधर उसे ब्रह्मज्ञान रूपी परमानन्द की प्राप्ति होती है, उसमें क्षोभ का तो लेश भी नहीं होता। यही कारण है कि साधक परम शान्त और निर्विकार भाव से युक्त रह कर केवल उस रस में निमग्न रहना ही उचित समझता है।

इसीलिए वह सभी कर्मों का त्याग कर देता है। अशुभ कर्म तो क्या, वह कोई शुभ कर्म करने में भी रुचि नहीं लेता। वह तो सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त अर्थात् पूर्णकाम रहता है। उसे किसी प्रकार के आश्रय की भी अपेक्षा नहीं रहती। घर में रहता है तो गृहरहित संन्यासी के समान। उसे घर की किसी वस्तु से कोई लगाव नहीं रहता। धन, वैभव, स्त्री, पुत्र, बन्धु आदि सभी के प्रति उदासीन रहता हुआ केवल जीवन यापन

भर के लिए आहारादि का आश्रय लेता है। वहां कितने भी पुण्य-कार्य हों अथवा पापकर्म, उसे उनमें से किसी से कोई प्रयोजन नहीं होता।

उसके लिए एकान्त स्थान या भीड़ युक्त स्थान दोनों ही समान होते हैं। वह पूजन, भजनादि जो कुछ भी करता है, केवल प्रतोकात्मक मान कर करता है। उसे किसी प्रकार का आघात पहुँचे तो वह खिन्न नहीं होता और आनन्दमय वातावरण मिले तो किसी प्रकार का हर्ष नहीं होता। वह तो उस अवस्था को पहुँच जाता है, जिसमें परमात्मा के प्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुहाता। उसे न किसी पूज्य की पूजा में रुचि होती है, न किसी की प्रशंसा में ही। वह आवश्यक सांसारिक कार्यों में लगा रह कर भी उनसे वियुक्त अर्थात् पृथक् ही रहता है। रामचरित मानस में भगवान् श्रीरामचन्द्र जी स्वयं श्री लक्ष्मण जी के प्रति कहते हैं—

वचन कर्म मन मोरि गति भजन करहिं निष्काम।
तिन्ह के हृदय कमल महँ करउँ सदा विश्राम।।

संसार में जो कुछ भी चैतन्य रूप है, वह सब ब्रह्म ही है। सभी जीवों के रूप में सर्व व्यापक ब्रह्म ही विद्यमान है। भक्तों के हृदय में निवास करने वाले भगवान् साक्षात् ज्ञानरूप हैं, क्योंकि ज्ञान के द्वारा आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है। हरिवंश पुराण में भगवान् स्वयं महर्षि मार्कण्डेयजी के प्रति कहते हैं—

यत्पृथिव्या द्विजेन्द्राणां तपसा भावितात्मनाम्।
बहुजन्मनिरुद्धात्मा ब्राह्मणो यतिरुच्यते।।
ज्ञानवान्दृष्टविश्वात्मा योगिनां योगवित्तमः।
कृतान्तः सर्वभूतानां विश्वेषां कालसंज्ञितः।।

अर्थात्—पृथिवी पर जितने भी बड़े-बड़े ज्ञानी तपस्या के लिए प्रसिद्ध हैं और जिनके जन्म-बन्धन नष्ट होचुके हैं और जो आत्मज्ञान से सम्पन्न होचुके हैं उस ज्ञान का साक्षात् स्वरूप मैं ही हूं तथा मैं सम्पूर्ण योगियों में परम श्रेष्ठ योगी हूं और संसार के सभी प्राणियों के लिए विकराल काल भी मैं ही हूं।

भक्ति में ध्यान का महत्व

परन्तु उक्त प्रकार का ज्ञान श्रद्धा, विश्वास, भक्ति आदि के बिना नहीं हो सकता। शिवपुराण में ध्यान को ही ज्ञान का कारण माना गया है। यथा—

नास्ति ध्यानं विना ज्ञानं नास्ति ध्यानमयोगिनः।
ध्यानं ज्ञानं च यस्यास्ति तीर्णस्तेन भवार्णवः॥

अर्थात्—ध्यान के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और ध्यान की उत्पत्ति योग के बिना सम्भव नहीं है और जो साधक ध्यान और ज्ञान दोनों से सम्पन्न होते हैं, वे भवसागर से पार हो जाते हैं।

ध्यान सभी मार्गों में प्रशस्त है। कर्मयोग हो या ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग, तीनों में ही मोक्ष की प्राप्ति में ध्यान ही सहायक होता है। भक्त भी के भगवान् ध्यान में निमग्न होता है, तभी उसकी भक्ति फल-दायिनी होती है। भगवन्नाम कीर्तन एवं प्रभु-यश-गान आदि में भी भक्त अपनी ध्यान मुद्रा में ही नृत्य आदि भावों में विभोर रहता है। उसे नाचने, गाने, हंसने आदि सभी क्रियाओं के समय अपने भगवान् ही दिखाई देते रहते हैं और यह भक्ति की परिपक्व अवस्था में ही होता है।

ऋषि-देवर्षि वार्ता

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में नैमिषारण्य निवासी ऋषि-मुनियों और देवर्षिनारदजो के वार्तालाप का उपाख्यान वर्णित है

उसमें नारदजी विश्वपाश से मुक्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं—'साधनचतुष्टयसम्पन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तोदान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वरूप ध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति' अर्थात् 'चारों साधनों से सम्पन्न होकर तथा सम्पूर्ण विश्व से उठकर मन, वाणी, कर्म, देह आदि के द्वारा सब प्रकार की आशा का त्याग करे और वासना, एषणा आदि को भी सर्वथा त्याग दे। फिर किसी के प्रति द्वेषभाव न रखते हुए मन और इन्द्रियों को वश में करके संन्यास ग्रहण कर ले तथा परमहंस आश्रम में रह कर अविनाशी स्वरूप का ध्यान करता रहे। बस इस प्रकार निरन्तर ध्यान में तन्मय रहता हुआ देह-त्याग के उपरान्त मुक्त होजाता है।'

जब ध्यान के द्वारा साधक परमात्मा से साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है, तब वह बाह्य विषयों से रहित होकर आत्मा-परमात्मा के ऐक्य को सुदृढ़ करने में सफल होने लगता है। उस समय उसे अनुभव होता है कि उसका चित्त माया से शून्य होता जारहा है और वह निर्विकल्प एव निरवयब ब्रह्म की ओर बढ़ रहा है। ब्रह्मविन्दूपनिषद् में मोक्ष-प्राप्ति के लिए उपयुक्त अवस्था का निश्चय करते हुए कहा गया है—

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च।
पक्षपात विनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

अर्थात्—साधक की ब्रह्म-प्राप्ति का समय तब आता है, जब उसके सामने चिन्तनीय और अचिन्तनीय का कोई अन्तर शेष न रहे तथा दोनों में से किसी की ओर उसका कुछ विशेष झुकाव न हो।

और यह स्थिति साधना की उस अवस्था में उत्पन्न हो सकती है, जिसमें साधक को किसी मत-मतान्तर से लगाव न हो। उसके हृदय में पूर्णरूप से निष्पक्षता हो और वह यह समझने में समर्थ हो गया हो कि ईश्वर का यथार्थ स्वरूप क्या है? इस यथार्थ रूप का समझना ही ज्ञान है। यही परमात्मा की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। क्योंकि—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
येषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मनषाः॥

—गीता ५।१६-१७

अर्थात्—जिनके अन्तःकरण का अज्ञान आत्मज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान उस सच्चिदानंद घन परमात्मा को सूर्य के समान प्रकाशित करता है। इस प्रकार जिनकी बुद्धि और मन तद्रूप हैं तथा जिनकी स्थिति उस सच्चिदानन्दघन परमात्मा में निरन्तर एकीभाव से है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा सब पापों से शून्य होकर अपुनरावृत्ति (परम मुक्ति) को प्राप्त होते हैं।

परन्तु, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसका उद्घाटन सहज ही होना सम्भव नहीं है। 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' (श्वेताश्वतर) अर्थात् 'परमात्मा में जिसकी परमभक्ति हैं और वैसी ही भक्ति गुरु में भी है, ऐसे महानात्मा पुरुष के अन्तःकरण में ही यह कहे हुए रहस्य प्रकाशित होते है।'

नचिकेता और यम का उपाख्यान

रहस्यों का प्रकाशित होना ज्ञान पर ही निर्भर है, इसलिए ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट साधन माना गया है। उसी से कर्मयोगी

को कर्म का और भक्त को भक्ति का ज्ञान होता है। कठोप-निषद् में नचिकेता और यम का श्रेष्ठ उपाख्यान वर्णित है। उसके अनुसार बाजिश्रवा ने एक बहुत बड़ा विश्वजित् युद्ध किया। उसमें उन्होंने बहुत-सा दान किया, परन्तु उस दान में वास्तविक भावना की न्यूनता और लोक दिखावे की अधिकता थी। क्योंकि बड़ी भारी संख्या में जिन गौओं का दान कियागया, वे सब बूढ़ी और बेकार थीं। यह देखकर बाजिश्रवा के पुत्र नचि-केता ने विचार किया कि 'जो गौएँ निरर्थक हो चुकी हैं, उनका दान करने वाला व्यक्ति सब प्रकार के सुखों से शून्य नरकादि लोकों को प्राप्त होता है।'

ऐसा विचार करके नचिकेता ने अपने पिता के पास जाकर तत्व ज्ञान की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। उसकी बात सुनकर पिता रुष्ट हो जाता है और वह अपने उस परम प्रिय पुत्र को यम के लिए दान कर देता है तब नचिकेता यम के स्थान पर जा पहुँचता है और उनके घर पर आने तक बिना कुछ खाये पिये रहता है। जब यम अपने घर पर आते हैं, तब उन्हें सब समाचार ज्ञात होता है और नचिकेता के उच्च विचारों से प्रभावित होकर वे उसे तीन वर माँगने को कहते हैं।

नचिकेता प्रथम वर यही माँगता है कि 'मेरे पिता का क्रोध शान्त होजाय और वे मुझ पर पूर्ववत् स्नेह करने लगें।' दूसरे वर में यज्ञ के विधान और तीसरे वर में परलोक-ज्ञान की याचना करता है। यम उसकी परीक्षा लेने के विचार से कहते हैं कि 'हे नचिकेता! तुम्हारा तीसरा वर व्यर्थ है, उसके बदले में बहुत-से पशु, हाथी, महती पृथिवी, वैभव और सन्तानादि तथा परमायु मांग लो। तुम भूलोक में महान् ऐश्वर्य शाली बनो, मैं तुम्हें समस्त भोगों को भोगने में समर्थ बनाये देता हूं।' इसके उत्तर में नचिकेता निवेदन करता है--

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यमहे वित्तमद्राक्ष्य चेत्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानान्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा—
नतिदीर्घे जीविते को रमेत॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥

अर्थात्—'हे मृत्यो! भोग क्षण-भंगुर हैं, मनुष्य की सब इन्द्रियों के तेज को यह भोग ही क्षीण कर डालते हैं। तब आयु कितनी ही लम्बी क्यों न हो, अल्प होजाती है। इसलिए आपके यह रथ, वाहन, नृत्य, गीत आदि सब आपके पास ही रहें। मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं होता। परन्तु, जब आपके दर्शन हो गए हैं तो धन भी मिलेगा ही। जब तक आपका शासन रहेगा तब तक हम जीवित रहेंगे ही। इसलिए माँगने योग्य वर तो आत्मज्ञान-सम्बन्धी ही है। मनुष्य जीर्ण होकर मरता है, इस तत्व को कौन मर्त्यलोक का निवासी जानता है? आप जैसे वृद्धावस्था से रहित एवं सदा अमर रहने वाले साधुजनों की संगति को प्राप्त होकर भी आमोद-प्रमोद का चिन्तन करते हुए

कौन दीर्घजीवी होने की कामना करेगा ? जिस महिमामय आत्मज्ञान के सम्बन्ध में मरण के पश्चात् आत्मा के अमर रहने या न रहने की जो शंका की जाती है, उसमें जो यथार्थ है, वही आप बताइये। यह वर अत्यन्त गूढ़ है, इसलिए नचिकेता किसी अन्यवर की याचना नहीं करता।'

यम द्वारा आत्मज्ञान विषयक उपदेश

तब विवश होकर यम ने नचिकेता को आत्मज्ञान का उपदेश देते हुए कहा—'ॐ एक अक्षर मात्र है, यही परब्रह्म है। इस परम आधार का ज्ञाता ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है। आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, वह तो नित्य है, न वह किसी के द्वारा उत्पन्न हुआ है, न उसके द्वारा कोई अन्य उत्पन्न हुआ है। वह तो अजन्मा, नित्य सदा रहने वाला सनातन है। शरीर के नष्ट होने पर भी इसकी मृत्यु नहीं होती। जो व्यक्ति इस प्राणी के हृदय-गह्वर में निविष्ट उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान् से भी महान् परमात्मा को तथा उसकी महिमा को देखने में समर्थ होजाता है, उस कामना और दुःख-शोकादि से मुक्त हुए व्यक्ति पर परमात्मा की असीम कृपा ही हुई समझो। क्योंकि वह परमात्मा कहने, सुनने से अथवा बुद्धि से प्राप्त नहीं होता वरन् जिस पर उसकी कृपा होती है, उसी के द्वारा अथवा उसी को प्राप्त होता है।

इन्द्रियों से विषय अधिक शक्तिशाली हैं, विषयों से मन अधिक शक्तिशाली है मन से सबल बुद्धि और बुद्धि से भी महान् आत्मा है। आत्मा से श्रेष्ठ अव्यक्त शक्ति और अव्यक्त शक्ति से श्रेष्ठ परमात्मा है तथा 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा स परागतिः' अर्थात् 'उस परमात्मा से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वही सब की चरम सीमा और परमगति है।'

वह परमात्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है। वही अनन्त, अनादि, नित्य, अव्यय और आत्मा से भी श्रेष्ठ तथा सत्य स्वरूप है। उसे जो भले प्रकार जान लेता है, वह मृत्यु-मुख से मुक्त होजाता है। क्योंकि जैसे वृष्टि का शुद्ध जल अन्य जलों में मिल कर उसी में सात्म्य होजाता है, वैसे ही परमात्मा को जान लेने वाले सन्त पुरुषों का आत्मा उसी परमात्मा में लीन होजाता है। फिर उसका पुनर्जन्म कभी नहीं होता।

इस प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों प्रकार के योगों में समान उद्देश्य निहित है, सभी का अन्तिम लक्ष्य अनन्यतम मोक्ष की प्राप्ति करना है। तीनों ही मार्गों की प्रारम्भिक अवस्था स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति रूप फल-लाभ कराती है। जब उसमें स्वार्थ-भावना का अभाव होजाता है तब सामीप्य मोक्ष के अधिकारी साधक को भगवान् के निकट रहकर उनकी सेवा-परिचर्या का सुअवसर मिलने लगता है। इसके पश्चात् उसकी श्रेय-भावना जितनी तीव्र होती जाती है, उतना ही वह संसार-भाव से ऊँचा उठता जाता है और तब उसके लिए सारूप्य मोक्ष और सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति सुलभ होजाती है।

ज्ञान, कर्म, भक्ति की पारस्परिक अपेक्षा

अनेक विद्वान् मानते हैं कि ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। यदि ज्ञान नहीं होगा तो कर्म या भक्ति में चित्त नहीं लग सकता। क्रिया, भावना और बुद्धि यह तीनों इस देह रूपी रथ के तीन अश्व माने गये हैं। उन्हें निर्दिष्ट मार्ग पर तभी ले जाया जा सकता है, जबकि उस मार्ग का ज्ञान हो। परन्तु, कोई कहे कि ज्ञान से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है तो वह बहुत ऊँची बात है। कोई बिरले मनुष्य ही ऐसे होसकते

हैं जो बिना कर्म या भक्ति के, केवल ज्ञान के बल पर ही संसार सागर से तर गये हों। अन्यथा ज्ञान के साथ कर्म की अपेक्षा रहना स्वाभाविक है। यज्ञादि अनुष्ठान, सेवा-पूजा, ध्यान कीर्तन, व्रत आदि का ज्ञान होते हुए भी यदि उन्हें व्यावहारिक रूप से न किया जाय तो कोई कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान और कर्म दोनों की परस्पर अपेक्षा सिद्ध होती है।

भक्ति की उत्पत्ति भी ज्ञान से ही होती है। जब तक यह ज्ञान नहीं होगा कि परमात्मा की उपासना या भक्ति से मोक्ष हो सकता है, तब तक परमात्मा की भक्ति ही क्यों और कैसे की जायगी ? इसी प्रकार ज्ञान के साथ कर्मयोग या भक्तियोग में से किसी एक का साधन तो करना ही होगा।

भक्ति और कर्म को भी परस्पर असम्बद्ध नहीं कह सकते। क्योंकि हृदय में भक्ति भाव के साथ श्रवण, कीतन, प्रभु-स्मरण, चरण सेवन, पूजन, वन्दन आदि कर्म, जो कि नवधा भक्ति के अंग रूप हैं, करने ही होंगे। इसलिए चाहे वैदिक कर्म किये जाँय चाहे भक्ति के अंगभूत कर्म किये जाँय, दोनों ही प्रकार के कर्म निस्पृह भाव से किये जाने पर ही मोक्षदायक सिद्ध हो सकते हैं। श्रीमद्भगवत् गीता (१३। २४-२५) के अनुसार—

ध्यानेनात्मनि पश न्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चा रे॥
अन्ये वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

अर्थात्—'कितने ही मनुष्य तो उस परमात्मा को शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं और अन्य (कितने ही) ज्ञानयोग के द्वारा देखते हैं तथा अपर (कितने ही) कर्मयोग के द्वारा देखते हैं। परन्तु, इनसे दूसरे अर्थात् मन्द बुद्धि वाले

पुरुष स्वयं इस प्रकार न जानते हुए अन्य (तत्वज्ञानी पुरुषों से) सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुनने में परायण हुये मनुष्य भी मृत्यु रूपी संसार सागर को अवश्य ही पार कर लेते हैं।

इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि संसार सागर से तरने के लिए ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि का आश्रय ही अपेक्षित नहीं है। वरन् केवल भगवान् के चरित्रों को सुन कर उनके प्रति श्रद्धा भाव रखते हुए शुद्ध आचरण और भगवद्-भजन, कीर्तन आदि के आश्रय से भी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो सकता है शास्त्र वचनों में श्रद्धा और ईश्वर में विश्वास, यही दो आश्रय ऐसे हैं, जिनके दृढ़ होते रहने पर भक्ति भी उत्तरोत्तर दृढ़ होती जाती है। भगवद् गीता में ही कहा है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रिय।
ज्ञानं लब्ध्या परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

—गीता ४।३९-४०

अर्थात्—तत्पर हुआ जितेन्द्रिय एवं श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता और ज्ञान प्राप्त होने पर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त होजाता है और अज्ञानी श्रद्धा-रहित और संशय से युक्त मनुष्य नष्ट (परमार्थ से भ्रष्ट) होजाता है। क्योंकि संशययुक्त मनुष्य के लिए तो न सुख है, न यह लोक है और न परलोक ही है। अभिप्राय यह है कि संशयात्मा पुरुष के लिए तो यह लोक और परलोक दोनों ही भ्रष्ट होजाते हैं।

यदि श्रद्धा नहीं तो कैसा भी कर्म कर लिया जाय, निष्फल ही रहेगा। क्योंकि श्रद्धा है तो ही विश्वास रहेगा यदि श्रद्धा

नहीं है तो विश्वास भी नहीं हो सकता और श्रद्धा, विश्वास दोनों के संयोग से ही भक्ति उत्पन्न होती है। जिस देवता में श्रद्धा और उसकी शक्ति में विश्वास होगा वही देवता फलदायक सिद्ध हो सकेगा। विद्वानों की मान्यता है कि श्रद्धा और विश्वास के मिश्रित भाव ही भगवान् बन जाते हैं। इसलिए तुलसीदासजी ने 'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ' कह कर पार्वती और शिव को श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप मान कर उनकी वन्दना की है।

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किसी रोगी को कोई औषधि दी जाय तो वह औषधि तभी लाभ करती है, जबकि औषधि और उसके देने वाले चिकित्सक के प्रति रोगी को श्रद्धा और विश्वास हो। यदि वैसा नहीं होता तो रोगी को लाभ नहीं हो पाता। यही बात जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देखी जाती है और बड़े-बड़े कठिन कार्य केवल श्रद्धा और विश्वास से ही बन जाते हैं।

श्रद्धा-विश्वास की महिमा

एक लोकोक्ति है—एक पण्डितजी उपदेश देने में बड़ कुशल थे। वे नदी-तट पर स्नान करने गये तो वहां उन्हें एक स्त्री कुछ विचार करती हुई-सी खड़ी दिखाई दी। उन्होंने उससे पूछा—'अरी भाग्यवती ! तू ऐसी चिन्ता-मग्न-सी क्यों खड़ी है ?' उसने कहा—'पंडितजी ! पार के ग्राम में मेरा मायका है, वहां मेरी माता बीमार है, उसे देखने के लिए जाना आवश्यक है, इसलिए बहुत देर से खड़ी हुई नाव की प्रतीक्षा कर रही हूं।'

पण्डित जी को ज्ञात था कि 'आज नाव वाला किसी अन्य गांव को गया है, इसलिए नाव का चलना सम्भव नहीं है।'

यह बात उन्होंने उस महिला से कह दी और बोले—'कल चली जाना।'

उसने चिन्ताग्रस्त होते हुए कहा—'पंडितजी ! मेरी माता मरण-शय्या पर पड़ी है, इसलिए जाये बिना काम नहीं चल सकता। अब आप ही कोई ऐसा उपाय करिये जिससे कि मैं शीघ्र ही पार पहुँच सकूँ।'

पण्डित जी ने कुछ देर सोचा और फिर बोले—'अरी भाग्य-वती ! यह नदी तो बहुत छोटी-सी है। भगवान् का नाम लेकर हजारों मनुष्य बड़े-बड़े समुद्रों से पार होजाते हैं, तो तू इसे भी पार नहीं कर सकती ? अपने इष्टदेव में श्रद्धा और विश्वास रख कर उन्हीं का नाम लेती हुई नदी में घुस जा। अवश्य ही पार होजायगी।

उस महिला ने पण्डित जी की बात पर विश्वास कर लिया क्योंकि वह उनके प्रति श्रद्धा तो पहले से ही रखती थी, इसलिए शीघ्रता से नदी में घुसी और भगवान् का नाम लेती हुई पार होगई।

एक दिन पण्डित जी के लिए भी ऐसा अवसर आ गया। उस दिन कोई नाव आदि तो थी ही नहीं, स्नानादि के लिए आने वाले मनुष्य भी जा चुके थे, इसलिए नदी तट पर कोई मनुष्य दिखाई नहीं देता था। पण्डितजी को पार-गांव जाना आवश्यक था, इसलिए नदी में घुस गये।

परन्तु पण्डितजी के मन में राम-नाम के प्रति अधिक श्रद्धा विश्वास नहीं था। इसलिए आगे बढ़ने पर भँवर में जा फँसे और डूबने-उतराने लगे। वह तो कहीं दूर से किसी ने उन्हें इस संकट में फँसा देख लिया, इसलिए समय पर सहायता मिल गई, अन्यथा बचना बहुत कठिन था। इस प्रकार उस महिला को राम-नाम की सामर्थ्य का उपदेश देने वाले पण्डितजी स्वयं उस

सामर्थ्य के प्रति दृढ़ श्रद्धा और विश्वास न रखने के कारण नदी को पार नहीं कर सके ।

उक्त लोकोक्ति के वर्णन का अभिप्राय यही है कि श्रद्धा और विश्वास के बिना न तो ज्ञानयोग सफल हो सकता है, न कर्मयोग और भक्तियोग तो श्रद्धा और विश्वास की भित्ति पर टिका ही है। यदि सुदृढ़ श्रद्धा और विश्वास हैं तो भक्ति भी सुदृढ़ होगी। इन्हीं के सहारे भक्त सब प्रकार की आशंकाओं, भयों और मनोविकारों से मुक्त रह सकता है और यही दोनों अपने अद्‌भुत प्रभाव से भक्त को भक्ति के महान् फल रूप मोक्ष की प्राप्ति कराने में सहायक हैं। उस मोक्ष का स्वरूप एक मात्र भगवत्प्राप्ति है। भागवत (११।२६।३३) में उद्धव को ज्ञानोपदेश करते हुए भगवान् स्वयं निर्देश करते हैं—

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे ।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः॥

अर्थात्—भिन्न-भिन्न फलों की प्राप्ति के जानने योग्य साधन भी बहुत से हैं, परन्तु वे भक्तों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के लिये ही हैं। तुम मेरे भक्त हो, अतएव तुम्हारे लिये तो ज्ञान, कर्म, योग आदि से प्राप्त होने वाले धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप मैं ही हूं। इसलिए तुम तो केवल मेरी ही शरण लो।

अनन्य चित्त से ईश्वर की प्राप्ति

यही अभिप्राय स्वयं भगवान् ने ही श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (१२। ६-७) में अर्जुन के प्रति व्यक्त किया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु संसार सागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ॥

अर्थात्—जो मेरे परायण हुए भक्तजन सभी कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझ परमेश्वर की ही अनन्य भाव से ध्यान योग के द्वारा निरन्तर चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, उन मेरे में ही चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार करने वाला होता हूं।

इस प्रकार भगवान् को स्वयं ही अपने भक्तकी चिन्ता रहती है। इसीलिए वह अपने भगवान् पर ही सब प्रकार का भरोसा रखे हुए निश्चिन्त रहता है। क्योंकि उसे तो विश्वास रहता है कि भगवान् का नाम ही मुझे सब पापों से मुक्त करके परम श्रेय की प्राप्ति करा देगा। 'जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल' (रामचरित) काकभुशुण्डि ने भी भगवान् रामचन्द्रजी की नाममयी भक्ति का ही सहारा लिया था। इस सब का अभिप्राय यही है कि हरि-भक्ति का ध्येय प्रभु की प्राप्ति ही है।

भक्ति में ध्यान की तन्मयता

ध्यान एवं शारीरिक, मानसिक पवित्रता

जब तक मन में चंचलता रहती है तब तक ध्यान की तन्मयता नहीं बन पाती। क्योंकि मन भगवान् के ध्यान में स्थिर नहीं होता तो भक्ति मेंभी सुदृढ़ता असम्भव है। जब तक मनको स्थिर करने का अभ्यास नहीं किया जाता, तब तक ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती।

मन की स्थिरता के लिए ज्ञान के आश्रय से बहिर्मुखी वृत्तियों का नष्ट होजाना आवश्यक है। संसार क्षण-भंगुर है, इसकी सभी वस्तुएं नाशवान् हैं, ऐसी दृढ़ भावना होने पर मन

में वैराग्य उत्पन्न होता है और सांसरिक तृष्णाओं को व्यर्थ एवं अश्रेयस्कर मान परमात्मस्वरूप में स्थिर होने लगता है। परन्तु प्रश्न यह है कि ध्यान किस प्रकार किया जाय ? अनेक विद्वान् मानते हैं कि ईश्वर निराकार है और अनेक साकार मानते हैं। अब यदि निराकार की मान्यता करें तो जब ईश्वर का कोई आकार या रूप ही नहीं, तब ध्यान किसका किया जाय ? और यदि साकार मानकर ध्यान करें तो साकार ईश्वर के अनेक रूप हैं—शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, इन्द्र आदि। इस शंका का समाधान योग दर्शन (समाधि पाद सूत्र ३९) में आचार्य पातजलि इस प्रकार करते हैं कि 'यथामितध्यानाद्वा' अर्थात् 'जिसे जो आकार इष्ट हो वह उसका ध्यान करे तो मन स्थिर होता है।'

उक्त सूत्र इस तथ्य की पुष्टि करता है कि मन को स्थिर करने के लिए उसे किसी स्थूल आकार में योजित करना आवश्यक है। चाहे वह आकार (मूर्ति या चित्रादि) अपने किसी भी इष्टदेव की हो अथवा गुरु, माता, पिता आदि की हो। बिना आकृति के चित्त को स्थिरता सम्भव नहीं है। परमात्मा का आकार कल्पित करके उसको भी ध्यान किया जा सकता है। अनेक विद्वान् परमेश्वर को ज्योति स्वरूप मानकर ज्योति का ध्यान करते हैं। कुछ लोग बिन्दु या सितारे आदि के द्वारा ही ध्यान को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं।

शिव, विष्णु आदि के रूप में विभिन्न आकारों का पूजन करने से वह पूजा एक ही परमात्मा को पहुँचती है। क्योंकि एक ब्रह्म के ही अनेक रूप हैं। 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' अर्थात् 'उस एक को ही अनेक रूपों में कल्पना की गई है।' इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि किसी भी आकार के ध्यान से परमात्मा का ही ध्यान सिद्ध होता है।

मन की यह स्थिरता या एकाग्रता निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के साधकों को आवश्यक है। यद्यपि ध्यान के दो भेद प्रमुख रूप से स्वीकार किये गएहैं—एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म स्थूल ध्यान प्रतिमा आदि का और सूक्ष्मध्यान ओंकारादि के रूप में किया जाता है। ध्यानबिन्दु उपनिषद् के अनुसार—

ओंकार यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेतु सः।
प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवृर्तन्ते क्रिया सर्वास्तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात्—जो ओंकार को नहीं जानता वह ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। यह प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। सावधानी पूर्वक तन्मय होकर (ध्यान करते हुए) बाण से उस लक्ष्य को वेधने से और 'अवर' (ब्रह्म) को जान लेने से सब क्रियाओं की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं रहता।

'तत्रप्रत्यंकतानताध्यानम्' (यो० द० ३।२) अर्थात् 'जहाँ चित्त को ठहराया जाय उसी में वृत्ति का एक जैसा बना रहना ध्यान है।' अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय में चित लगाकर ध्यान किया जाता है, उसमें चित्त की वृत्ति निरन्तर समान प्रवाह से लगा रहता है। गीता (६।१८) के अनुसार—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

अर्थात्—अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जब परमात्मा में ही भले प्रकार स्थित हो जाता है, तब सभी कामनाओं से निस्पृह हुआ मनुष्य योगयुक्त कहा जाता है।

उद्धवजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से ध्यान के स्वभाव एवं लक्षण आदि के विषय में प्रश्न किया था तो उन्होंने बताया कि 'हे उद्धव ! मेरे सुकुमार स्वरूप का ध्यान करे। अपने मन को मेरे एक-एक अंग में स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सभी अंगों में ध्यान की सिद्धि करे। जब इतना हो जाय तब मेरे अंगों का चिन्तन छोड़कर केवल मेरे अधरों की मुसकान का ही ध्यान करे। जब वहाँ भी मन की स्थिरता हो जाय तो वहाँ से हटाकर आकाश में योजित करे और जब वहां भी एकाग्रता प्राप्त हो जाय तब उसको भी छोड़कर मेरे निर्विशेष शुद्ध स्वरूप में लगादे।

तत्पश्चात् ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी को हो विलीन होने दे। इस प्रकार साधक को पूर्ण तन्मयता की प्राप्ति होजाती है। पूर्ण मन्मयता प्राप्त हो जाती है, जब साधक मुझ में अपने को और अपने मुझको उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार कि एक प्रकाश दूसरे प्रकाश में मिलकर हो जाता है।

वेदान्त सूत्रों की व्याख्या करते हुए रामानुजाचार्य जी अपना मत व्यक्त करते हैं कि 'विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष से भक्ति की प्राप्ति होती है। उनके अनुसार विवेक के अन्तर्गत खाद्य का विचार, विमोक के अन्तर्गत इन्द्रिय, दमन, अभ्यास के अन्तर्गत आत्मत्याग का अभ्यास, क्रिया के अन्तर्गत यज्ञ आदि कर्म, कल्याण के अन्तर्गत बाहुयाभ्यान्तरिक शुद्धि, अनवसाद के अन्तर्गत शरीर का बलवान रहना और अनुद्धर्ष के अन्तर्गत व्यर्थके उल्लास का रोकना समाविष्ट है।

रामानुजाचार्य के अनुसार खाद्य वस्तुओं में तीन दोष प्रमुख माने गए हैं—(१) जातिदोष, जैसे कि प्याज आदि में दुर्गन्ध-

दोष अथवा मद्यादि में नशे का होना, (२) आश्रय दोष, जैसे कि किसी बुरे व्यक्ति के पास का अन्न या अन्याय की कमाई से उपार्जित अन्न, और (३) निमित्त दोष, जैसे धूलि या कृमि आदि के कारण अन्न का खराब हो जाना। इस प्रकार इन तीनों प्रकार के दोषों से युक्त अन्न का त्याग आवश्यक होता है।

आहार शुद्धि-विवेक

छान्दोग्य का मत है—'आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृति लभ्ये सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्यै मृदित कषायाय तमस्पादर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।' अर्थात् 'जब आहार शुद्ध होता है तब सत्व (अन्तःकरण) शुद्ध होजाता है और अन्तःकरण के शुद्ध होने पर विवेक बुद्धि ठीक प्रकार कार्य करने लगती है। उस विवेक से अज्ञानोत्पन्न बन्धन-ग्रन्थियां खुल जाती हैं और तब परमतत्व से साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्ञान भगवान् सनत्कुमारजी ने देवर्षि नारद को दिया था।'

उसी उपनिषद् ने अन्न को तीन प्रकार का होना कहा है—'उसका स्थूल भाग मल, मध्यम भाग मांस और सूक्ष्म भाग मन बन जाता है। उसी प्रकार पिया हुआ पानी भी तीन प्रकार का ही हो जाता है। उसका स्थूल भाग मूत्र, मध्यम भाग रक्त और सूक्ष्म भाग प्राण बन जाता है।'

उक्त कथन का अर्थ हुआ कि शरीर और मन दोनों को श्रेष्ठ एव पवित्र बनाये रखने के लिए शुद्ध अन्न-जल शरीर और मन को अपवित्र बना देता है। इसलिए उसके त्याग की अपेक्षा मानी गई है। क्योंकि मन के अन्नमय, प्राण के जलमय और वाक् के तेजोमय होने की मान्यता है। इस स्थिति में

अशुद्ध अन्न-जल मन और प्राण को तो दूषित करेगा ही, रस, रक्त आदि को भी दोषयुक्त कर देगा, जिसका फल होगा शरीर और मन का अस्वस्थ होना और अस्वस्थ शरीर और मन वाले मनुष्य से ध्यानादि के द्वारा भगवान् की उपासना कभी नहीं हो सकती।

तैत्तरीय उपनिषद् ने बहुत स्पष्ट कह दिया है कि 'एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तेनैष पूर्णः, सवा एष पुरुष विध एव' अर्थात् 'इस अन्न-रस युक्त शरीर के भीतर जो प्राणमय पुरुष है, वह अन्न से व्याप्त है। यह प्राणमय पुरुष ही आत्मा है।' इससे भी यही सिद्ध हुआ कि शरीर अन्न-रस से बना है आर उस शरीर में जो प्राण है वह अन्न से ही व्याप्त है तथा वह प्राण ही आत्मा है। यदि शरीर, प्राण और आत्मा को अपवित्र आहार दिया जायगा तो आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। इसीलिए मद्य, मांस, प्याज, लहसुन या चट-पटे मसालेदार, नशीले, गरिष्ठ, उत्तेजक, बासी एवं तमोगुणी प्रकृति के खाद्यान्नों के सर्वथा त्याग का निर्देश सभी शास्त्रों में मिलता है।

विमोक या इन्द्रिय-संयम

इन्द्रियों को लोलुपता से दूर रखना भी अति आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रियों के उच्छृ खल रहने की अवस्था में भगवत्-साधना का ध्यानादि कर्म ठीक प्रकार से नहीं किया जा सकता। इसीलिए योग ग्रन्थों में प्रत्याहार को योग का एक आवश्यक माना गया है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन (२।५४) में कहा है—'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' अर्थात् 'अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाता है, वह प्रत्याहार है।'

प्रत्याहार का सीधा-साधा अर्थ है इन्द्रियों से विमुख होना। जैसे मनुष्य की छाया उसके चलने पर चलती, बैठने पर बैठती, खड़े होने पर खड़ी हो जाती है, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त के अनुरूप कार्य करती हैं। अर्थात् जैसा चित्त होता है, वैसी ही इन्द्रियाँ रहती हैं। इस अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मतत्व के अभिमुख होता है, परन्तु इन्द्रियां आत्म तत्व के अभिमुख न होकर केवल बाह्य विषयों से विमुख हो जाती हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करना ही इन्द्रिय-संयम है और यह स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है, जब कि शुद्ध, संयमित आहार विहार द्वारा चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास किया जाय। क्योंकि अभ्यास के बिना कोई भी कार्य साध्य नहीं होता,

अभ्यास से अभूतपूर्व सफलता

बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि अभ्यास से कठिन से कठिन कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं। योग-विधियों में तो अभ्यास को सभी विधियों के लिए आवश्यक माना है। विशेष कर मन को शान्त और सबल बनाने के लिए आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि के अभ्यास को बहुत आवश्यक माना गया है। योगवासिष्ठ के अनुसार—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते॥

अर्थात्—अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और तब केवल निर्वाण ही शेष रहता है।

योगकुण्डल्युपनिषद् ने चित्त की चंचलता को इन दो

भागों में विभाजित किया है—(१) वासना, और (२) प्राण। इनमें से यदि वासना जीत ली जाय तो प्राण भी जीता जा सकता है और यदि प्राण को जीत लें तो वासना भी जीत ली जाती है। इस प्रकार वासना और प्राण, इन दोनों में से एक के वशीभूत होने पर दूसरा स्वतः ही वश में हो जाता है। परन्तु इनमें से किसी एक का भी वश में किया जाना अभ्यास पर ही निर्भर है।

भजन, कीर्तन, ध्यान, ज्ञान आदि-सभी कार्यों में अभ्यास का अपेक्षा होती है। जो व्यक्ति वैसा अभ्यास नहीं करते उन्हें ठीक प्रकार से सफलता नहीं मिलती और उनका चित्त सदैव डाँवाडोल स्थिति में रहता हुआ कभी किसी कार्य में दृढ़ नहीं रहता। ज्ञान में अभ्यास की आवश्यकता स्वीकार करते हुए एक कवि का कथन है—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पर होत निसान॥

अर्थात्—अभ्यास करते-करते तो महामूर्ख भी वैसे ही विद्वान् और कार्य-कुशल बन जाता है, जैसे कि कुएँ से जल खींचने वाली रस्सी अपने आने-जाने से कठोर पत्थर को भी काटकर निशान बना देती है।

कर्मानुष्ठान से श्रेय-प्राप्ति

कर्मों के अनुष्ठान में प्रमुख रूप से तो यज्ञादि कर्म आते हैं। इनके करने से फल रूप में सांसारिक भोगों की ओर स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होना माना जाता है। ऋग्वेद ने मनुष्यों का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य 'यज्ञ' बतलाया तथा अन्य वेद भी इसी प्रकार के कर्मकाण्ड को मान्य ठहराते हैं। परन्तु, सभी प्रकार के यज्ञ श्रद्धा, अहिंसा, ज्ञान आदि की भावना से

ओतप्रोत हैं। ऋग्वेद में इस भावना को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

न्यक्रतून ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीरं श्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान।
प्र प्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून॥
—ऋक् ७-६-३

अर्थात्—हे अग्निदेव! तुम यज्ञशून्य, ठगी का व्यवहार करने वाले, हिंसायुक्त वचन कहने वाले श्रद्धाहीन, ज्ञानहीन एवं यज्ञ से विमुख पाणि रूप दस्युओं को दूर हटाओ और उनको सब प्रकार से हीन बना दो।

इस प्रकार ऐसे यज्ञ काम्य कहलाते हैं, उनमें जिस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा की जाती है, वही उपलब्ध हो सकती है। परन्तु परम श्रेय रूप ईश्वर की प्राप्ति के लिए निस्पृह भाव से कम करने पड़ते हैं। उन कर्मों में वे यज्ञ भी सम्मिलित हैं, जो ईश्वर के निमित्त किये जाते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत थोड़े होते हैं। गीता (७।३) के अनुसार—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात्—हजारों में कोई विरला मनुष्य ही मेरी प्राप्ति के लिए यज्ञ करता है। उन यज्ञ करने वाल सिद्ध पुरुषों में भी कोई ही पुरुष तत्त्वपूर्वक मुझे जानता है।

शरीर की बाह्य शुद्धि की अपेक्षा

जैसे मन का शोधन आवश्यक है वैसे ही शरीद का बाह्य शोधन भी कम आवश्यक नहीं है। क्योंकि अपवित्र शरीर से अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है और किसी भी साधना में चित्त नहीं लगता। मानसिक पवित्रता बनाये रखने के लिये भी शरीर का शोधन आवश्यक होता है।

योग ग्रन्थों में इसी उद्देश्य से अनेक प्रकार के धौति, नेति आदि कर्मों का उल्लेख मिलता है । योगिजन शरीर का बाह्य और आन्तरिक शोधन दैनिक रूप से करते हैं । उनमें से अनेक कर्म गृहस्थ जनों के लिए भी बहुत उपयोगी हैं ।

योग ग्रन्थों में शरीर-शोधनार्थ कार्य में लाए जाने वाले इन कर्मों को षट्कर्म कहते हैं यथा (१) धौति और अन्तर्धौति (२) वस्ति, (३) नेति, (४) लौलिकी (५) त्राटक,और (६) कपालभाति । परन्तु यह क्रियाएँ सामान्य और अनभ्यासी व्यक्तियों के लिए बहुत कठिन सिद्ध होती है, इसलिए उनके समान ऐसी अनेक क्रियाएँ प्रयोग में लाई जाने लगीं, जो सरल भी हों और जिनसे स्वच्छता भी हो सके ।

प्रातःकाल उठकर शौचादि से निवृत्त हों और किसी दाँतुन या मंजनादि से दाँतों को स्वच्छ करें । गले में अँगुलियाँ डालकर कण्ठ, जिह्वामूल और जिह्वा आदि को स्वच्छ करें और तत्पश्चात् सम्पूर्ण शरीर से स्नान करें और फिर शरीर को सूखे वस्त्र से पोंछ कर कपड़े पहिन लें । यह साधन नित्य प्रति करते रहने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार शौच स्नान आदि की क्रियाएँ अपने दैनिक अभ्यास में डाल लें । इनसे शरीर के साथ मन पर अत्यन्त अनुकूल प्रभाव पड़ता है और साधक के चित्त की चंचलता भी दूर हो जाती है ।

आन्तरिक शुद्धि की आवश्यकता

रामानुजाचार्यजी ने भक्ति की प्राप्ति के लिए एक उपाय कल्याण बताया है और उसके अन्तर्गत पवित्रता को मान कर अन्तः शुद्धि को आवश्यक स्वीकार किया है । उसके लिए उन्होंने निम्न गुणों की अपेक्षा की है--(१) सत्य, (२) आर्जव, (३) दया,

(४) दान (५) अहिंसा और (६) अनभिध्या। सत्य में सत्य भाषण और सत्यका आचरण दोनों ही आते हैं। आर्जव का अर्थ सरलता है, इससे सरल व्यवहार को निर्देश समझना चाहिए। दया के अन्तर्गत दूसरों के दुःखों को देख कर द्रवित होना और उसकी प्रत्येक सम्भव सहायता के लिए तत्पर रहना अथवा निस्वार्थ भाव से परोपकार करना। अहिंसा का अभिप्राय है मन, वाणी और कर्म से किसी की हिंसा न करना अर्थात् मन में किसी को पीड़ित करने का विचार न आने देना। वाणी द्वारा किसी के हृदय को पीड़ित न करना अथवा किसी अन्य को किसी अन्य की हिंसा के लिए न उकसाना। कोई ऐसा कार्य न करना, जिससे किसी की हिंसा होती हो अथवा किसी को किसी प्रकार से चोट पहुँचे। अनभिध्या में पराये द्रव्य के प्रति लालच न रखना, व्यर्थ की बातों या कार्यों का चिन्तन न करना अथवा किसी अन्य द्वारा पहुँचाई गई किसी हानि के प्रतिशोध स्वरूप उसे हानि पहुँचाने का विचार न करना आदि का समावेश है।

योग ग्रन्थों में अष्टांग योग का वर्णन हुआ है, उनमें यम और नियम प्रथम और द्वितीय अंग माने गए हैं। उनके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच, यह दश यम तथा तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, लज्जा, वुद्धि, तप और हवन, यह दश नियम हैं। यद्यपि विभिन्न योगाचार्यों में यम, नियमों की संख्या आदि में किंचित् मतभेद है, फिर भी सभी की मान्यता है कि शरीर के आन्तरिक शोधन में इनकी अत्यन्त आवश्यकता है और साधक जब तक इनका पालन नहीं करता, तब तक उसकी कैसी भी साधना पूर्ण नहीं हो सकती।

महर्षि पतंजलि ने यम, नियम की संख्या पाँच-पाँच ही मानी है—'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' और 'जातिदेशकाल समयानवाच्छिन्नाः सार्वभौमामहाव्रतम्' (यो. द. २।३०-३१) अर्थात् 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पाँच यम हैं, जिनका जाति, देश, काल एवं समय से आबद्ध न होकर पालन करना महाव्रत के समान है।

'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः' (यो. द. २।३२) अर्थात् 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की शरण लेना, यह पाँच नियम हैं।' जो लोग अष्टांग योग को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते हैं, उनके लिए पाँचों यमों और पांचों नियमों का आचरण बहुत आवश्यक है।

यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि यम-नियम की संख्या पाँच-पाँच, दश-दश या न्यूनाधिक होनी चाहिए, इसका निष्कर्ष निकाला जाय। वरन् प्रश्न यह है कि क्या उनका आचरण करने से साधक को कोई लाभ हो सकता है? यदि विचार पूर्वक देखें तो सभी यम, नियम जिस प्रकार योगाभ्यासी के लिए आवश्यक हैं, उसी प्रकार कर्मयोगियों और भक्तों के लिए भी कम अपेक्षित नहीं हैं। सर्व प्रथम अहिंसा को ही लीजिए, उसकी भावना ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारण आविर्भूत होती है। उसके कारण लोक में बड़े-बड़े भयंकर काण्ड तक होते देखे जाते हैं। किसी को मारना, किसी का अंग-भंग करना, किसी की हत्या करना आदि अहिंसा-भाव के कुपरिणाम हैं, जबकि किसी को दुर्वचन कहना, ताहिने देना, उपालम्भ आदि करना सामान्य परिणाम होते हुए भी कभी कभी भीषण रूप धारण कर लेते हैं।

अहिंसा के बिना भक्ति की व्यर्थता

जिस मनुष्य के हृदय में हिंसा—भाव जाग्रत् है, वह

ईश्वर की सच्ची भक्ति कभी नहीं कर सकता। भक्ति तो प्राणिमात्र के साथ प्रेम भाव का निर्देश करती है। सभी जीव ईश्वर के अंशभूत हैं, इसलिए उसी के एक अंश के प्रति विद्वेष रखना, उसी से विद्वेष रखना है। अतएवं भक्त को तो सभी के प्रति निश्छल प्रेम रखते हुए सभी के कल्याण की बात सोचनी चाहिए।

सत्य का आचरण और सत्य भाषणादि की आवश्यकता अमान्य नहीं की जा सकती। असत्य भाषण और आचरण से मन निश्चल नहीं हो सकता। और भक्ति में भगवान के प्रति मन का अनन्य होना अत्यावश्यक है। यदि अनन्य भाव नहीं तो भक्ति ही कैसी? केवल भक्ति का आडम्बर करने मात्र से तो भक्ति-भाव की सिद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए ज्ञानी, कर्मवान या भक्ति सभी के लिए सत्य व्यवहार की पूर्ण अपेक्षा है।

इसी प्रकार अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि अन्य सभी यम और तप, सन्तोष, आस्तिकता आदि सभी नियम सब प्रकार के योगियों के लिए आवश्यक हैं। यह सभी यम, नियम बाह्याभ्यन्तर, दोनों प्रकार की शुद्धि और मनोभूमि को पवित्र बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। जो भक्त इनका आचरण करने में तत्पर रहते हैं, वे शनैः शनैः अपने हृदय को निश्चल भक्ति से सम्पन्न बनाते हुए ईश्वर प्राप्ति की ओर द्रुतगति से बढ़ते जाते हैं।

अनवसाद का महत्व

आचार्य रामानुजाचार्य ने अनवसाद का अर्थ बल या शक्ति माना है। यदि साधक में निर्बलता आ जाती है तो वह प्रायः अपने दैनिक कर्मों में भी सफल नहीं हो पाता।

क्योंकि शरीर में शक्ति होने पर ही ईश्वर के जप, तप, ध्यान, भजन आदि में चित्त लग पाता है। यदि कोई रोग या विकार होता है तो वह भी योग साधन से दूर डाल देता है।

अनवसाद का वास्तविक अर्थ है–अवसाद-राहित्य अवसाद का अर्थ दुःख, अशान्ति, क्लेद, खेल आदि का होना ही है और जब तक अवसाद रहता है, तब चित्त का स्थिर रहना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि 'असयतात्मना योगो दुष्प्राय इति मे मतिः, (गीता) अर्थात् 'मन को वश में न करने वाले मनुष्य द्वारा योग की प्राप्ति कठिन है।'

यदि चित्त में अवसाद (अशान्ति है) तो भजन, ध्यानादि में मन नहीं लगता और यदि शरीर में अवसाद (निर्बलता) है तो भी किसी कार्य में चित्त नहीं लग सकता, चाहे वह कार्य भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक। इस प्रकार स्वस्थ चित्त और सबल शरीर से ही किसी प्रकार की साधना भले प्रकार हो सकती है।

'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः. (मुण्डक) अर्थात् 'बलहीन पुरुष आत्मलाभ से वंचित रहता है उसका कारणहै निर्बल शरीर में किसी कार्य के करने की क्षमता का न होना, जिस कार्य की क्षमता ही नहीं तो उसे करेगा ही कैसे? निर्बल शरीर में अनेक प्रकार के रोग या विकार उत्पन्न हो सकते हैं, उसके कारण चित्त सदा दुःखी रहता है, जिसका फल यह होता है कि वह मनुष्य ज्ञान, ध्यान, भक्ति, जप तप, यज्ञ आदि में तो क्या तत्पर रहेगा, जबकि उसे अपनी जीविका आदि के कार्य में भी उत्साह नहीं हो सकता।

जहाँ उत्साह नहीं, वहां कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता। मन का शरीर के प्रति ऐसा लगाव है कि शरीर के स्वस्थ रहने पर ही मन भी स्वस्थ रहता है और यदि शरीर निर्बल है तो मन का भी निर्बल होना स्वाभाविक है। यह सर्व मान्य तथ्य है कि निर्बल मनोभूमि वाला मनुष्य अपने को सब प्रकार से असहाय पाता है।

सभी मनुष्यों में कुछ न कुछ आन्तरिक शक्तियां होती ही हैं। परन्तु शारीरिक क्षीणता से उन शक्तियों का प्रभाव घट जाता और वे अपना अनुकूल प्रभाव प्रकट करने की क्षमता खो बैठते हैं। जब ऐसा होता है तब मनुष्य सब प्रकार से निराश होने लगता है। इसलिए भक्त साधक को अपने शरीर की ओर ध्यान देकर उसे निर्बल होने से बचाना चाहिये।

अनुद्धर्ष की निरर्थकता

अनुद्धर्ष का अभिप्राय है अनावश्यक हर्ष। हर्ष का अर्थ है उल्लास, प्रसन्नता, आल्हाद इत्यादि। काम-विज्ञान के अनुसार हर्ष का अर्थ कमोत्तेजना भी है। इन सबको मिलाकर यही तात्पर्य निकलता है कि अनावश्यक उल्लास, उत्तेजना अथवा विहार से मन वासनाओं की ओर दौड़ता है, जिसके फल स्वरुप भगवान् के प्रति निश्चल भक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि वासनाओं की ओर दौड़ने वाला मन साधक अथवा भक्त को ध्यान में तन्मय नहीं होने देता।

आवश्यकता यह है कि अधिक आमोद प्रमोद के अवसरों से बचा जाय। हर्ष की अधिकता मनुष्य को हरि-चिन्तन के आयोग्य बना देती है जिससे मन में विद्यमान् शक्तियों का क्षय होने लगता है। उसके फल स्वरूप इच्छा शक्ति दुर्बल हो जाती है, उसकी दृढ़ता का अन्त हो जाता है और जब इच्छाशक्ति

में दृढ़ता नहीं, तब मनुष्य किसी विषय विशेष के स्थैर्य में समर्थ नहीं होता।

परन्तु अनावश्यक हर्ष का त्याग भी मन के संयम से ही सम्भव है। गोरक्ष संहिता में इस विषय में बहुत स्पष्ट कहा गया है—

एतद्विमुक्ति सोपा नमेतत्कालस्य वंचनम्।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥

अर्थात्—जब अभ्यास के द्वारा मन विषय भोगों से हट करपरमात्मा में लग जाता है, तब साधक काल(मृत्यु) को जीत कर जरा-मरण को सर्वथा वश में कर लेता है। इस प्रकार यही कर्म मोक्ष को सीढ़ी और यही काल की वंचना है।

और ऊपर भक्ति के जिन उपायों का वर्णन किया गया है, वे सभी मनोभूमि को शुद्ध, स्वस्थ और सबल बनाने वाले हैं। जिनके मन, बचन में पवित्रता है, वे निर्दोष पुरुष ही श्रवण, कीर्तन आदि का पूर्ण फल प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि पवित्र हृदय ही मोक्ष का कारण हो सकता है। मैत्रेय्युपनिषद् (२,२) की मान्यता है —

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमल त्यागः शौचमिन्द्रिय निग्रहः ॥

अर्थात् —आत्मा और परमात्मा में भेद न देखना ही ज्ञान है। मन को विषयों से दूर करना ध्यान, मन के मैल को त्याग देना ही स्नान और इन्द्रियों को वश में रखना या सम्पूर्ण वासनाओं को छोड़ देना ही पवित्रता है।

वासना से भ्रम की उत्पत्ति होती है, वासना ही मोह के उत्पन्न होने में परम कारण है। इसीलिए वासनाग्रस्त अज्ञानियों को भगवान् की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। शिव संहिता के अनुसार—

स वासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनाति समर्थनम् ।
उत्पन्नं चेदीदृश स्याज्ज्ञान मोक्ष प्रसाधनम् ।।
साक्षाद्वैशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि विभ्रमे ।
करणं नान्यथायुक्त्या सत्यं सत्यं मयोदितम् ।।

अर्थात्—'जीव को वासना के कारण ही भ्रम की उत्पत्ति होती है और जब तक वासना निर्मूल नहीं होती, तब तक भ्रम भी नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब कुछ भी शेष नहीं रहता। इस कारण ज्ञान को ही मोक्ष का साधन समझना चाहिए। जो कुछ भी विशेष दृष्टि से साक्षात् दिखाई देता है, वही प्रत्यक्ष भ्रम का कारण होता है अर्थात् विशेष रूप से जीव प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले दृश्यजाल में फस जाता है और उसके लिए उसमें फंसना ही वन्धन का कारण है। जब तक माया का पर्दा पड़ा रहता है, तव तक बुद्धी उस दृश्य प्रपंच से ऊपर उठ ही नही सकती और इसीलिए जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। यह कथन नितान्त सत्य है।'

श्रेष्ठ मनोभूमि और ईश्वर के प्रति विश्वास

शास्त्र—श्रवण या प्रभु के चरित्रों के श्रवण को इसीलिए महत्व दिया जाता है कि उससे श्रेष्ठ मनोभूमि बनती और भगवान् के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। विश्वास में ही आस्तिकता; निष्ठा और श्रद्धा निहित है। क्योंकि विश्वास से ही इन सब भावों की उत्पत्ति होकर ईश्वर-चिन्तन की प्रवृत्ति होती है। शिव संहिता में ही कहा गया है—

निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञाता वेदान्त युक्तितः ।
निरालम्वं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत् सुधीः ।।
एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीन मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ।।

अर्थात्—विद्वान् साधक वेदान्त को युक्तियों (विधियों) के अनुसार मन को आलम्ब-रहित करके आत्मा का चिन्तन करे, किसी अन्य का चिन्तन न करे। इस प्रकार ध्यान करने पर निःसंदेह सिद्धि की प्राप्ति होती है। इसमें साधक मन को वृत्ति-रहित करके स्वयं पूर्णरूप हो जाता है। अर्थात वृत्ति-रहित चित्त से ध्यान किया जाने पर आत्मस्वरूप का पूर्ण सत्क्षात्कार हो जाता है।

वृहदारण्यक उपनिषद् ने तीन एषणाओं का वर्णन किया है, जो कि पतनकारी हैं। उसके अनुसार कौषीतक के पुत्र कहोल ने प्रश्न किया —'हे याज्ञवल्क्य! इस साक्षात् और अपरोक्ष ब्रह्म तथा सर्वान्तिर रूप आत्मा के विषय में मुझे बताइये याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया वह सर्वान्तिर आत्मा तुम्हारे भीतर ही है। उस पर सुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, और मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं होता। उस आत्मा को जान कर ही पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर रहकर भिक्षाचर्या पर निर्भर रहे। क्योंकि पुत्र की कामना ही धन की कामना है और धन की कामना ही लोकयश की कामना है। इन दोनों कामनाओं को जानता हुआ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो कर आत्मबल पूर्वक मननशील हो। यही साधन कल्याण स्वरूप हैं।

ईश्वर-प्राप्ति में सर्व शुद्धि का महत्व

शरीर की शुद्धि को सभी अध्यात्मवादियों ने प्राथमिकता दी है। योग, ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि किसी प्रकार से भी ईश्वर-प्राप्ति के साधन में तत्पर मनुष्य का यह सबसे पहला कर्तव्य है कि वह बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की पवित्रता के लिए प्रयत्नशील हो। घेरण्ड संहिता में मोक्ष प्राप्ति के सात साधनों का वर्णन किया गया है—

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्यं च लाघवम् ।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तं च घटस्थं सप्त साधनम ।।

अर्थात् – शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्त, यह सात साधन शरीर की शुद्धि के लिए सबसे पूर्व करने चाहिए।

उक्त साधनों में जिन कर्मों के लिए कहा है वह भी प्रसंगवश बता देना उचित ही होगा। शोधन के लिये षटकर्म (धौति आदि) दृढ़ता के लिये आसनों का अभ्यास, स्थैर्य के लिये मुद्राएँ धैर्य के लिए प्रत्याहार, लाघवता के लिए प्राणायाम, ध्येय की प्रत्यक्षता के लिए ध्यान निर्लिप्तता (आसक्ति हीनता) के लिए समाधि। यह भी कर्म विधिपूर्वक करने से साधक को अवश्य ही मोक्ष कीं प्राप्ति होती है।

उक्त सप्त साधनों में प्रथमता शोधन को ही दी गई है। उसके लिए चाहे षटकर्मों का आश्रय ले अथवा स्नानादि की सामान्य विधि का आचरण करे, उसमें जितनी अधिक स्वच्छता, शुद्धि हो सकेगी, उतना ही अधिक लाभ होगा। क्योंकि कोई भी साधन किया जाय, जितना अधिक किया जायगा उतना ही अधिक फल दिखायेगा।

शरीर की दृढ़ता के लिये आसनों का निर्देश किया है, जो कि सामान्य व्यक्तियों के लिये कठिन प्रतीत होते हैं। परन्तु आसन एक प्रकार के श्रेष्ठ व्यायाम हैं. यदि उन्हें न किया जा सके तो अन्य प्रकार के व्यायामों का आश्रय लेकर शरीर को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

लोक का दिव्य संगीत संकीर्तन

जिनकी भक्ति परिपक्व हो जातो है, वे हरि-नाम

संकीर्तन करते हुए झूम उठते हैं। उन्हें उस समय अपने शरीर की किंचित भी सुधि बुधि नहीं रहती। हरि-नाम संकीर्तन में इतना सात्विक मद है कि भक्त उसमें मतवाला होकर गाने नाचने लगता है। 'हरे कृष्णा हरे कृष्णा कृष्णा-कृष्णा हरे हरे' में संगीत वह उत्कृष्ट लय निकलती है कि उस स्थान का वातावरण ही कृष्णमय हो जाता है।

यदि कोई कहे हरि-नाम संकीर्तन में संगीत का समावेश क्यों होना चाहिये जब कि उसे विना सगीत के सरलता से किया जा सकता है ? तो इसके समाधान में यह कह देना उचित होगा कि बिना संगीत के रटा जाने वाला नाम कीर्तन एक प्रकार का जप ही होगा और मनुष्य को संगीत के समावेश से होने वाले लाभों से वंचित रह जाना पड़ेगा। इसलिये सफल कीर्तन वही है, जिसमें संगीत की स्वर लहरी भरी हुई हो और नर्तक भक्त के पद उसकी लय, ताल पर पड़ती हो।

सगीत में एक आकर्षण होता है, आनन्द होता है और उसमें भाग लेने वालों को उसके द्वारा अदभुत अनुभूतियों और सवेगों की प्राप्ति होती है। संगीत का महत्व कोई नया नहीं है, वरन् वह तव से चला आरहा है, जब से लोग संगीत के स्वरों को जानने लगे, और स्वरों को जानने का प्रारम्भ कव से हुआ, इस पर कोई यथार्थ तत्व आज तक प्राप्त नहीं हुआ है।

हमारे अनेकानेक शास्त्रकारों ने संगीत की उपयोगिता एक स्वर से स्वीकार की और वे उसे सगुण उपासना का आवश्यक अंग मानते हैं। भगवान शंकर ने किसी पुरा काल में पार्वती जी से कहा था कि 'प्रिये। मुझे गायन जितना

प्रिय लगता है, उतना घी, दूध, दही आदि भी अच्छा नहीं लगता।' यही कारण है कि देवर्षि नारद वीणा बजाते और उसके साथ हरि-गुण गाते हुए त्रैलोक्य में विचरते रहते हैं।

संगीत संहिता के अनुसार 'पूजन से कोटि गुणा श्रेष्ठ ध्यान है, ध्यान से कोटि गुणा श्रेष्ठ जप और जप से श्रेष्ठ गुणा श्रेष्ठ हरि-गुण-गायन है। गायन से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। क्योंकि लोक-पितामह ब्रह्माजी ने चारों वेदों के सार रूप में पाँचवें वेद संगीत की रचना की थी।'

संकीर्तन से पापों का नाश

याज्ञवल्क्य स्मृति ने संगीतज्ञों को शिवजी के अनुचर बनकर शिवलोक में आनन्दपूर्वक रहने का प्रतिपादन किया है। विष्णु पुराण ने भगवान को शब्द मूर्तिधारी कहकर स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् श्रीहरि साक्षात प्रेममय संगीत की प्रतिमूर्ति है। तथा वे समस्त आलापों और गीतों के शरीर रूप हैं।

विष्णु सहस्रनाम के अनुसार संकीर्तन से सभी प्रकार के पापों का नाश होता है। उसका कथन है कि यदि श्रद्धा और भक्ति का भी अभाव हो तो भी अकेले संकीर्तन (हरिनाम कीर्तन) से ही सब प्रकार के रोग, भय एवं पापों का क्षय हो जाता है।

संगीत शास्त्र को अनेकानेक साधक योग मानते हैं। योग-विद्या के आचार्यों ने समाधि अवस्था में यह नवीन तथ्य खोज निकाला कि सूक्ष्म प्रकृति वालों के अन्तराल में एक ध्वनि गूँजती रहती है। जो कि ओंकार की ध्वनि से मिलती जुलती प्रतीत होती हैं।

योगियों के अनुभव में आ चुका है कि ब्रह्माण्ड की जो उत्पत्ति निरन्तर सूक्ष्म प्रकृति में होती रहती है, उसमें एक मात्र कारण ओंकार ही है। संसार में जितने भी शब्द सुनाई देते हैं वे सब ओंकार के द्वारा ही विकसित हुए हैं। आज भी ब्रह्माण्ड की सभी सूक्ष्म या स्थूल ध्वनियों में ओंकार ही आधारभूत समझना चाहिये।

गीता की उत्ताल तरंगों में संगीत की विद्यमानता

आप गंगा या यमुना के तट पर जाकर देखिए कि उनकी जो उत्ताल तरगें नृत्य करती हुई आगे बढ़ती हैं, उनमें एक ऐसी तालबद्धता है, जो संगीत के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में हो ही नहीं सकती। उसमें नाद का जो मूर्त-अमूर्त स्वर समाविष्ट है उसके मूल में भी ओंकार की ताल-बद्धता ही समायी हुई है।

वृक्षों की सायं-सायं पक्षियों की चहचहाट, कोयल की कुहुक, पपिहा की पी-पी; भ्रँवर का गुंजन आदि भी संगीत की ध्वनि से ओत-प्रोत होता है। यहाँ तक कि शिशु के रुदन और हास में भी संगीत का सहज रूप सम्मिलित है। उन सभी में वही आदि ध्वनि गूंजती रहती है।

आपने वन में कभी मोर या मोरनी को नाचते देखा होगा। उसके नृत्य में कितने नपे-तुले, कितने लय बद्ध पग पड़ते चले जाते हैं। इसी प्रकार भक्तजनों के पांव, जब प्रेम-रस में मत्त होने के कारण एक निश्चित गति से थिरकने लगते हैं, तब उनकी उस थिरकन में उच्च कोटि की लय बद्धता होती है और साथ ही कीर्तन की ध्वनि के साथ मृदंग या ढोलक और मजीरे का योग-दान उसे और भी उत्कृष्ट श्रेणी

का संगीत बना देता है और उस अवस्था में जिस दिव्यता की अनुभूति होती है, वह वाणी के द्वारा अवर्णनीय है।

संगीत से आत्म-विस्मृति की अवस्था

कीर्तन के साथ नाचते हुए पाँव और विभिन्न मुद्राएँ प्रस्तुत करते हुए हाथ आदि अंग प्रत्यंग जब हरिनाम संकीर्तन की स्वर लहरी से समन्वित होकर विभिन्न प्रकार के हाव-भावों में निमग्न हो जाते हैं, तब अंग-सचालन की गति के साथ ही तन्मयता बढ़ती चली जाती है और उसके प्रभाव से भक्त प्रेम-रस पान करता हुआ उन्मत्त हो जाता हैं। उस समय उसे अपने भगवान् के अतिरिक्त कुछ अन्य का भान ही नहीं रहता। आत्म-विस्मृति की यह अवस्था भक्त की चित्त वृत्ति को अनन्य भाव से भगवान् में लगा देती है।

संगीत शास्त्र में जिस स्वर-योग की साधना की जाती है, वह यदि आध्यात्मिक पक्ष में हो तो साधक को भगवान् की प्राप्ति कराने में सहायक होती है। अनेक योगी नाद रूप संगीत के आश्रय से मोक्ष प्राप्त करने में सफल होते हैं। उन नाद-योगियों की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि स्वर-साधना में ही ध्यान की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्वामी दयानन्द ने संगीत शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है — जिस प्रकार समष्टि रूप प्रकृति की ध्वनि ओंकार हैं, वैसे ही व्यष्टि रूप नाना प्रकृति के नाना स्वर हैं और नाना स्वर रूपी नाना प्रकार की प्रकृति का आविर्भाव करने के निमित्त ही संगीत शास्त्र का निर्माण हुआ है।'

इस प्रकार प्रकृति के अन्तराल से प्रस्फुटित होने वाली ध्वनि में संगीत भरा पड़ा है। वह ध्वनि ही सम्पूर्ण संसार

को ध्वनिमय बनाकर गुंजायमान किये हुए हैं। उसके प्रत्येक अंग में दिव्य संगीत की स्वर लहरी भरी हुई है। प्राणिमात्र में वही स्वर लहरी प्राण रूप से स्पन्दन किये हुए। इससे समझना चाहिए कि प्राण का अस्तित्व ही संगीत से है। यदि संगीत की ध्वनि और उसकी गति, ताल आदि प्राण को प्रभावित न करे तो शरीर का गतिहीन, निष्क्रिय, यहाँ तक कि प्राणहीन हो जाना अनिवार्य है।

शिव स्वरोदय में इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले जिन स्वरों की साधना का निर्देश है, वे स्वर भी लय और ताल से युक्त होने के कारण संगीतमय ही हैं तथा योग की प्राणायाम-साधना और श्वास-क्रिया भी इसी से ओत-प्रोत होती है।

प्राण वायु की गति यदि कुछ अव्यवस्थित होती है तो उससे निकलने वाली ध्वनि उसी प्रकार की होती है, जिस प्रकार कि कोई बेसुरा राग। परन्तु प्राणायाम के अभ्यास द्वारा जब उसे नियमित किया जाता है, तब श्वास क्रिया में एक रूपता आकर संगीतमयी तालबद्धता का आविर्भाव स्वतः हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम को साधना एक प्रकार से संगीत की साधना भी है और वैसी ही साधना भक्तजन हरि-नाम संकीर्तन द्वारा पूर्ण कर लेते हैं।

श्वास-प्रश्वास की गणना

दिन-रात्रि में मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की निश्चित गणना होती है। एक लय बद्ध गति से श्वास भीतर प्रविष्ट होता और उसी गति से बाहर निकलता। 'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः, अर्थात् हकार से श्वास बाहर निकालता और सकार से भीतर प्रवेश कहता है। इस प्रकार

श्वास के निकलने और प्रविष्ट होने में 'हंस' का जाप प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में होता रहता है । इसी को अजपागायत्री कहते हैं। इसका संख्या दिन-रात्रि के चौबीस घण्टों में इक्कीस हजार छः सौ होती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने श्वास-प्रश्वास में अजपा गायत्री का एक ताल और लय बद्धता के साथ संगीत की आराधना करता रहता है।

स्वराचार्य मानते हैं कि स्वर में ही सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, संगीत आदि का समावेश रहता है। शिव स्वरोदय के ही अनुसार --

स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गन्धर्वमुत्तमम् ।
स्वरे च सर्वं त्रैलोक्यं स्वरमात्मस्वरूपकम् ॥

अर्थात्—स्वर में ही सम्पूर्ण वेद और शास्त्र निहित हैं तथा स्वर में ही श्रेष्ठ गान्धर्व विद्या (संगीत शास्त्र) विद्यमान है। सम्पूर्ण त्रैलोक्य भी इसी स्वर में समाया हुआ है और स्वर ही आत्म स्वरूप है।

वेदों का संगीतात्मकता

उक्त श्लोक में स्वर के साथ वेदों की जो चर्चा हुई है, वह यथार्थ है। सभी वेदों में संगीत का समावेश है और वेद-ध्वनियाँ संगीत की ताल, लय से परिपूर्ण रहती हैं। सामवेद तो पूर्ण रूप से संगीतमय है ही । उसका पाठ सस्वर गान से ही होता है। 'संगीत-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ की मान्यता है कि 'ब्रह्माजी ने संगीत विद्या का संग्रह सामवेद से ही किया था ।' इस प्रकार संगीत का क्षेत्र इतना विशाल और विस्तृत है कि संगीत-सम्बन्धी एक पृथक् वेद की रचना ही होगई, जिसका नाम गान्धर्व वेद रखा गया। शिव स्वरोदय के उक्त श्लोक में उसी गान्धर्व वेद का 'स्वरे गान्धर्वमुत्तमम्' कह कर वर्णन किया गया है।

नारद संहिता (१।६) में भगवान् विष्णु के निवास के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनका निवास न तो योगियों के हृदय में है और न वैकुण्ठ में ही है, वरन वहाँ ही है, जहाँ भक्त गण उनका गुणगान करते हैं। नारद भक्ति सूत्र (३७) में कहा गया है कि 'लोकेऽपि भगवद्गुण श्रवण कीर्तनात्' अर्थात् 'लोक में भी भगवान के गुणों को सुनने और उनका कीर्तन करने से भक्ति सुदृढ़ होती है।

योग-विधियों में अष्टांग योग की क्रियाएं सामान्य व्यक्तियों के लिए कठिन होती है। क्योंकि वह यम, नियम, आसन, मूद्रा आदि की साधना को इस युग में अपने अनुकूल नहीं समझता और न उनमें उतना मनोबल एवं सूक्ष्म बुद्धि ही है. जिससे कि वह योग-क्रियाओं को ठीक प्रकार समझकर उनमें सफलता प्राप्त कर सके। इसीलिए विद्वानों ने प्रभु की प्राप्ति के लिए कलौकेशवकीर्तनात्' कहकर कलियुग में कीर्तन को ही उपाय माना है। और इसी उद्देश्य को नारद भक्ति सूत्र (८०) में भले प्रकार व्यक्त किया है—'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ' अर्थात् 'कीर्तन करने से भगवान् शीघ्र ही प्रकट होते और भक्तों को अपना अनुभव करा देते हैं।'

नाद का उत्पादक ओंकार

नाद, संगीत, कीर्तन आदि सभी गान्धर्व-विद्याओं का आधार आदि शब्द ओंकार ही है। यदि उसमें व्यवस्थित ताल, लय आदि है तो समझना चाहिए कि ओंकार की अनुकूलता है, किन्तु अव्यवस्थित ताल,लय वाला संगीत ओंकार की अनुकुलता से हीन होकर साधक को सभी क्षेत्रों में असफल बना देता है। उस अव्यवस्थित ताल, लय में मन का एक तान होना सम्भव नहीं होता, जबकि व्यवस्थित ताल, लय से युक्त कीर्तन की

सुमधुरता से हृदय तन्त्री के तार बजने लगते हैं, जिसके प्रभाव से गुप्त शक्तियां जाग्रत हो जाती हैं और रस-ग्रन्थियों का मुख खोलने में सहायक होकर अन्तर्मन को दिव्य रस से आप्लावित कर देती है। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस रसरूप परमात्मा से आत्मा का एकाकार होकर वह दिव्य रस अन्तर्मन में भरता जा रहा हो।

इस प्रकार दिव्य संगीत के रूप अनुभव में आने वाला नाद हृदय-कमल की प्रत्येक पंखुड़ी को प्राणमय और सशक्त बना देता है। उससे अन्तर्मन की कली-कली विकसित हो जाती है। मस्तिष्क की सभी शक्तियां धीरे धीरे जागरण को प्राप्त होकर एक ऐसा दिव्य आनन्द उत्पन्न कर देती हैं, जिसमें निमग्न हुआ भक्त किसी अन्य आनन्द की इच्छा ही नहीं करता।

कीर्तन का विज्ञान संगीत की स्वर लहरियों के माध्यम से चित्त को तन्मय और एकाग्र बनाने में सफल साधन सिद्ध होता है। उसमें जिस रसानन्द की अनुभूति होती है, वह मन को चंचल नहीं होने देती। जैसे किसी आतशी शीशे के द्वारा सूर्य की किरणों को एक केन्द्र बिन्दु में समेटा जा सकता है, वैसे ही कीर्तन के द्वारा मन को अन्यान्य विषयों से खींचकर भगवान् में निमग्न किया जा सकता है। यही वह ध्यानावस्था होती है, जिसे बड़े-बड़े योगी पुरुष भी कठिनता से सिद्ध कर पाते हैं।

कीर्तन में भगन्नाम रूपी जो मन्त्र विद्यमान रहता है, वह भक्त की बुद्धि को प्रखर करने, मनोबल ऊंचा करने और ब्रह्म का आवाहन करने में सहायक होता है। इस प्रकार कीर्तन का संगीत और मन्त्र की शक्ति दोनों मिलकर भक्त

में विशिष्ट तन्मयता उत्पन्न कर देते हैं, जिसके फलस्वरूप भगवान की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।

कीर्तन के अद्भुत परिणाम

पुराणों में भी कीर्तन के अद्भुत फल की प्राप्ति निर्दिष्ट हुई है। स्कन्द पुराण के अनुसार कीर्तन से शारीरिक, मानसिक और वाचिक सभी प्रकार के पाप नष्ट होते हैं। गरुड़ पुराण के अनुसार कीर्तन आत्म ज्ञान की प्राप्ति में प्रबल साधन स्वरूप है। विष्णु पुराण में कहा है कि 'जैसे अग्नि के संयोग से स्वर्ण आदि धातुओं का मल धुल जाता है, वैसे ही कीर्तन के द्वारा सभी पाप धुल जाते हैं।' वामन पुराण इसे विष्णु लोक में पहुँचने का साधन मानता है तो वाराह पुराण के अनुसार यह मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। वृहद् नारद पुराण में कहा है कि 'जब कीर्तन के द्वारा तन्मयता को प्राप्त हुआ भक्त नाचने लगता है, तब वह पृथिवी के जिस भाग का भी स्पर्श करता है, वह तुरन्त पवित्र हो जाता है।'

श्रीमद्भागवत (२।१।११) के अनुसार 'अत्यन्त वैराग्य युक्त एवं मोक्ष की कामना करने वाले साधकों को सब प्रकार के भवों से बचने के लिए हरिनाम कीर्तन ही निर्णीत साधन है।' लोक में जिन अनेक प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान का प्रचलन है, वे सभी आकाशस्थ मेघों को उद्वेलित कर अनावृष्टि को नष्ट कर देते हैं अर्थात् यज्ञों के अनुष्ठान से वर्षा हो जाती है। वैसे ही कीर्तन की ध्वनि भी आकाश तक पहुँच कर गूंजने लगती है, उससे आकाश उद्वलित हो उठता और सूखा काल में आवश्यक जल बरसने लगता हैं। इसलिए भागवत (१६।५।३२) में कहा गया है—

कृष्णवर्णंत्विषा कृष्णं सांगोपांगास्त्र पार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

अर्थात्—विवेकी जन श्याम वर्ण की कान्ति, अङ्ग और उपांग के चिह्न से युक्त अस्त्र एवं पार्षद सहित भगवान् का यजन कीर्तन के द्वारा किया करते हैं।

कलियुग में कीर्तन से बढ़ कर कोई मोक्ष का उपाय नहीं माना जाता। कीर्तन का फल, यज्ञ, तप, दान, योग आदि किसी से भी कम नहीं है, वरन् अधिक ही है। आदित्य पुराण तो इसे सभी कामनाओं की पूर्ति का साधन स्वीकार करता है। श्रीमद्भागवत (११।५।३७) के अनुसार—

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः॥

अर्थात्—इस संसार में भटकने वाले जीवों को कीर्तन से बढ़कर अन्य कोई ऐसा लाभ नहीं है कि जिसके द्वारा परम शान्ति मिलती हो और आवागमन से छुटकारा हो सकता हो।

रागों से वृष्टि और दीपों का प्रज्वलन

भारतीय सङ्गीत शास्त्र बड़ा विस्तृत और पूर्ण है। हमारे आचार्य समय-समय पर अपनी खोजों और अनुभवों के द्वारा इसका परिष्कार, परिमार्जन और वृद्धि करते रहे हैं। उन्होंने सोलह हजार राग-रागनियों का तथा तीन सौ छत्तीस तालों का आविष्कार किया। उनमें मेघराग की शक्ति के विषय में ऐसा कहा जाता है कि अकबर के दरबारी तानसेन जब मेघराग गाते थे तब जलवृष्टि अनायास ही होने लगती थी और दीपक राग गाने से बुझे हुए दीपक जल उठते थे।

नादविन्दूपनिषद् में नादयोग का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसके अनुसार योगी को अभ्यास के आरम्भ काल में अनेक प्रकार के तीव्र नाद सुनाई देते हैं, जो कि अभ्यास बढ़ते-बढ़ते धीमे होते जाते हैं। प्रारम्भ में नाद की वह ध्वनि नदी, झरना,

भेरी, मेघ-वर्षा आदि के समान होती है परन्तु बाद में भ्रमर-गुंजन, वीणा, वंशी एवं किंकणी आदि के समान मधुर होती जाती है। उस समय साधक यदि उनमें से किसी एक ध्वनि विशेष में चित्त को लगा लेता है तो फिर उसे सांसारिक प्रपंचों का स्मरण नहीं रहता।

तत्पश्चात् उसे किसी प्रकार की ध्वनि सुनाई नहीं देती। उस अवस्था में मन का अस्तित्व ही नहीं रहता। क्योंकि मन का अस्तित्व तभी तक है, जब तक कि शब्द की अनुभूति होती रहती है। जब नाद में शब्द का अभाव हो जाता है तब मन और प्राण ब्रह्म प्रणव के नाद में लय हो जाता है। उस समय वह सभी भावों से निर्मुक्त होकर मृतकवत् प्रतीत होता है। तब उसे शंख, दुन्दुभि आदि का नाद सुनाई नहीं देता और 'काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्' अर्थात् 'काष्ठ के समान जड़ होने पर उसे उन्मनी अवस्था प्राप्त हो जाती है।'

और यही अवस्था में कीर्तन में तन्मय हुए भक्त की होती है। वह कीर्तन की ध्वनि और मन्त्रोच्चारण में प्रयत्नशील रहता-रहता धीरे-धीरे उसमें इतना लीन हो जाता है कि उसे कीर्तन और मन्त्र ध्वनि सुनाई देना भी बन्द हो जाता है। उसके पाँव नाचते, सभी अङ्ग गति करते और मुख नाम-कीर्तन रूप मन्त्र का उच्चारण करता रहता है। परन्तु उस अवस्था में उसे स्वयं ही यह ज्ञान नहीं रहता कि उसके अङ्गों में किसी प्रकार की गति है। वह तो उस काष्ठ की पुतली के समान ही अपने अङ्गों को चलाता है, जो सूत्रधार के नियन्त्रण में रहकर उसी की अँगुलियों के संकेत पर नाचती है।

इस प्रकार कीर्तन में सङ्गीत की विद्यमानता से उसका अद्भुत प्रभाव प्रकट होता है। उसमें लौकिक सङ्गीत का नहीं,

वरन् दिव्य गान्धर्व विद्या का समावेश है, जिसके फलस्वरूप साधक शीघ्र ही लौकिक भ्रान्तियों से हट कर स्वयं को मोक्ष-मार्ग में प्रेरित कर देता है और तब उसे भगवान् की प्राप्ति के रूप में वह महान् सफलता मिलती है, जिसकी प्राप्ति अन्य साधनों से कठिन प्रतीत होती है।

कीर्तन एक उत्कृष्ट व्यायाम

कीर्तन जहाँ दिव्य सङ्गीत है, वहाँ एक उत्कृष्ट प्रकार का व्यायाम भी है। यदि बैठे-बैठे ही कीर्तन करें तो ऊर्ध्व अङ्ग का सञ्चालन होने से उसका एक श्रेष्ठ व्यायाम स्वतः सिद्ध हो जाता है। उसमें मुख से 'हरे राम हरे राम' आदि की ध्वनि का मुख के द्वारा उच्चारण किया जाता है। उससे कण्ठस्थ स्वर-नलिका स्वच्छ और सुदृढ़ हो जाती है।

हरिनाम-उच्चारण का प्रभाव उतना ही प्रबल होता है, जितना कि सामान्य प्रक्रिया द्वारा किये जाने वाले प्राणायाम का। जो व्यक्ति प्राणायाम की प्रारम्भिक क्रिया में भी अपने को असमर्थ पाते हैं वे कीर्तन के द्वारा प्राणायाम के लाभ को प्राप्त कर सकते हैं। इसमें चाहे प्राणवायु के नियमन का विशेष अभ्यास न होता हो, परन्तु नामोच्चार से शक्ति का जो विकास होता है, वह मुख-मण्डल को रोग-रहित बनाने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध होती है।

परन्तु खड़े होकर, नाचते गाते हुए कीर्तन करने से सभी अङ्गों का समुचित व्यायाम हो जाता है। उसमें पाँव, हाथ एवं अन्यान्य अङ्गों का संचालन उतने ही प्रभावकारी ढङ्ग से होता है, जितने से कि सर्वाङ्ग को गतिशील बनाने वाले आसनों के अभ्यास से सम्भव है।

इसके द्वारा टांगों और हाथों में विशेष गति आती है।

मृदङ्ग या ढोलक पर थाप देने और मजीरे, खरताल आदि बजाने से हथेलियों एवं अँगुलियों का पोषण होता है। अनुभवी कीर्तनकर्त्ताओं का कथन है कि कीर्तन से घुटनों, एड़ियों और पाँवों की अँगुलियों आदि में अप्रत्याशित रूप से दृढ़ता आने लगती है।

श्वसन क्रिया पर नियन्त्रण की वैज्ञानिक प्रक्रिया

कीर्तन करने में जो परिश्रम होता है, उससे श्वास की गति में तीव्रता स्वाभाविक रूप से हो जाती है। भगवान् के नामों का उच्च स्वर में उच्चारण करते हुए नृत्य के साथ जो उछल कूद होती है, उससे कभी-कभी तो हाँफने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो कि शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध नहीं होता।

नाचने में पेशियों को अधिक कार्य करना होता है, जिससे आक्सीजन का व्यय बढ़ने के कारण कार्बन डाइ ओक्साइड की उत्पत्ति में वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार आक्सीजन के अल्प होने और कार्बन डाई ओक्साइड के बढ़ जाने से श्वसन क्रिया से सम्बन्धित मस्तिष्क केन्द्र के द्वारा श्वसन क्रिया नियन्त्रक पेशियाँ शीघ्र गतिवान होने लगती हैं। इस प्रकार की शीघ्र गति रक्त में आक्सीजन की उपलब्धि कराती है, जिसके फलस्वरूप फुफ्फुसों में रक्त की गति तीव्र हो जाती है। कीर्तन इस कार्य की सम्पन्नता में बहुत कुछ प्रभावकारी रहता है।

इस प्रक्रिया से रक्त की गति अपेक्षित स्तर तक तीव्र हो जाती है, इसलिए जीवनी शक्ति की वृद्धि में भी यह उपयोगी क्रिया सिद्ध होती है। इसके फल स्वरूप शरीर सदैव स्वस्थ और सुडौल बना रहता है। लोगों का मत है कि

जो मनुष्य कीर्तन को नियमित रूप से करते हैं, उन्हें कोई रोग परेशान नहीं करते। चर्म रोगों का भी इसके द्वारा शमन हो सकता है। परन्तु उच्च रक्त चाप के रोगियों को नृत्य युक्त कीर्तन नहीं करना चाहिए। वे ऐसा कीर्तन कर सकते हैं जो कि बैठे बैठे, बिना अधिक परिश्रम किये साध्य हो सके।

रस-ग्रन्थियों में शक्ति-संचार की उत्कृष्ट प्रक्रिया भगवन्नाम संकीर्तन

शरीर में स्थित ग्रन्थियाँ शरीर को सब प्रकार से पुष्ट और सबल बनाने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। क्योंकि यदि यह ग्रन्थियां अपना कार्य न करें तो अङ्ग-संचालन की समूची क्रिया गड़बड़ हो जायगी और शरीर धीरे-धीरे निर्बल एवं निष्प्राण होता चला जायगा।

यह रस ग्रन्थियाँ शरीर के विभिन्न स्थानों में स्थित रहती हैं। जिस स्थान पर जिस रस की अपेक्षा हो सकती है, उस स्थान पर उसी प्रकार का रस उपलब्ध कराने वाली ग्रन्थियों की व्यवस्था प्रकृति द्वारा की हुई है। लाला रस वाली ग्रन्थि का कार्य मुख में लार को उत्पन्न करना है। आमाशय से सम्बन्धित ग्रन्थियाँ भोजन के आमाशय में पहुँचने पर आमाशयिक रस का स्राव करती हैं। यकृत की ग्रन्थियाँ पित्त को व्यवस्थित करतीं और क्लोम ग्रन्थियाँ क्लोम का आविर्भाव करती हैं। यह सभी ग्रन्थियाँ भोजन की पाचन क्रिया को भले प्रकार सम्पन्न करने में पूर्ण सहायता करती हैं।

स्वेद निकालने वाली ग्रन्थियाँ पसीना लाती हैं। चुल्लिका ग्रन्थि ऐसा रस उत्पन्न करती है, जिससे स्मरण शक्ति तीव्र रह सके। यदि इस ग्रन्थि का पुरुष में अभाव है तो उसकी

विचार शक्ति लुप्त हो जाती है। यदि किसी स्त्री में यह ग्रन्थि न हो तो शरीर पर रूखापन, मोटापन, आलस्य कार्य करने में अक्षमता तथा चित्त में चिड़चड़ापन आ जाता है। यदि किसी बालक में मूर्ख और मन्द बुद्धि होने के लक्षण प्रतीत हों तो उसमें इसी ग्रन्थि का अभाव समझा जा सकता है।

इस प्रकार मानव शरीर में ऐसी और भी ग्रन्थियाँ हैं, जिनके न होने के कारण मनुष्य अस्वस्थ, निर्बल और प्राणहीन हो जाता है। परन्तु हरिनाम संकीर्तन से इन ग्रन्थियों पर जो दबाव पड़ता है, उसके फल स्वरूप ग्रन्थियाँ आवश्यक मात्रा में रस का निर्माण सब प्रकार से योग्य बन जाता है।

स्नायविक संस्थान को दृढ़ बनाने की सरल प्रक्रिया

मस्तिष्क और सुषुम्ना नाड़ी तथा समूचे शरीर में जाल के समान फैले हुए सूत्र ही स्नायविक संस्थान कहलाते हैं। इन सूत्र रूप स्नायुओं के द्वारा ही सब इन्द्रियाँ अपना सम्बन्ध मस्तिष्क से बनाये रखती हैं और ऐसा होने पर ही मनुष्य का सुनने, सूँघने, देखने, छूने आदि को अनुभूति हो पाती है। सुषुम्ना का रूप अपने अन्तिम स्थान पर पहुँच कर एक बल्ब के समान हो जाता है। इसमें श्वास पर नियन्त्रण रखने वाली नसों के कोष होते हैं, जिनक नष्ट होने से जीवन का चलना ही असम्भव है। इसी प्रकार के नाड़ी कोषों का एक समूह हृदय पर नियन्त्रण करता है। एक कोष-सचय रक्त कोषों को नियमित रखता है तो कोई एक पसीने का व्यवस्थित करता तो कोई निगलने, चूसने आदि के काय में सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार शरीर भर में पृथक्-पृथक् नाड़ी कोषों के संग्रह स्थित हैं।

उक्त कोषों में अपने-अपने कार्य की पूर्ण क्षमता होना आवश्यक होता है। यदि वे कोष नष्ट हो जाते हैं तो शरीर रोगी और निकम्मा हो जाता है। परन्तु हरिनाम संकीर्तन में जो नृत्य-गान की श्रेष्ठ प्रक्रिया होती है, उससे उन कोषों के सबल और व्यवस्थित होने में पूर्ण सहयोग मिलता है।

प्राणों को सबल बनाने वाला सहज व्यायाम

जिसके द्वारा मनुष्य चलने-फिरने, खाने-पीने सोचने-विचारने और लिखने-बोलने आदि की क्रियाएँ सम्पन्न करती है, वही प्राण शक्ति है। यदि यह शक्ति किसी प्रकार निर्बल हो जाती है तो मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों में फँस जाता है। इसीलिए उपनिषद् आदि शास्त्रों ने प्राण को अमृत बताया है। 'प्राणं देवा अनु प्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात्सर्वायुषमुच्यते, सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राण ब्रह्मोपासते, प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति, तस्यष एव शारोर आत्मा यः पूर्वस्य' (तैत्तरीय उपनिषद् २।३) अर्थात् 'देवता, मनुष्य, पशु आदि जीव प्राण से ही चेष्टावान् रहते हैं, प्राण ही सब प्राणियों का आयु है, इसलिए प्राण ही आयु कहा जाता है, जो मनुष्य प्राण रूप ब्रह्म के उपासक हैं, वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं, क्योंकि यही शरीर में निवास करने वाला आत्मा है।'

ब्रह्मोपनिषद् ने प्राण को ही जगत का कारण ब्रह्म मान कर मन्त्र, ज्ञान और पंचकोष को प्राण पर ही आधारित कहा है। इसलिए प्राण को सदैव स्वस्थ और सबल बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। योगाचार्यों ने इसी उद्देश्य से प्राणायाम की प्रक्रिया का आविष्कार किया था, जिसके अभ्यास से योगिजन कभी किसी रोग से ग्रस्त या निर्बल नहीं होते हैं।

प्राण को सबल रखने का कार्य हरिनाम-संकीर्तन से स्वतः सिद्ध हो जाता है। उसमें प्राणायाम की अभ्यास आवश्यक नहीं होता है, वरन् भक्त जब कीर्तन में अनन्य भाव से निमग्न हो जाता है, तब प्राण की क्रिया स्वतः नियमित होने लगती है। उस समय अपनी ओर से किसी विशेष प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती।

इस प्रकार कीर्तन एक प्रकार का सरल और स्वाभाविक व्यायाम सिद्ध होता है। इसे करने से कभी किसी प्रकार के रोग उत्पन्न नहीं होते, वरन् शरीर सदैव स्वस्थ, सबल और सुगठित बना रहता है। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी इसे सरलता से कर सकते हैं। युवावस्था में इस क्रिया का आश्रय लेने वाले भक्तों का मुख मण्डल सतेज, शरीर सबल और सात्विक यौवन से सम्पन्न रहता है।

ध्यान की दृढ़ता का सरल साधन-संकीर्तन

संकीर्तन में ध्यान की अवस्था उत्पन्न करने की बहुत बड़ी शक्ति है। उसमें जिस तन्मयता का आविर्भाव होता है, वह ध्यानावस्था को उत्तरोत्तर सुदृढ़ करने के लिए पर्याप्त होती है। योगिजनों को ध्यान में तन्मयता लाने के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील होना पड़ता है, फिर भी कुछ विरले ही सिद्ध पुरुष होते हैं, जो ध्यान में सफलता प्राप्त कर पाते हैं।

परन्तु, कीर्तनशील व्यक्तियों को ध्यानावस्था उत्पन्न करने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। वे तो अपने प्रभु के प्रति सच्ची भक्ति रखते हैं और उसमें जो प्रेम की सरसता होती है, वह उन्हें प्रभु के ध्यान में अनन्य रूप से लीन कर देती है। यही उनकी वह सुदृढ़ ध्यानावस्था है, जो किसी अन्य प्रतिरोध से भी समाप्त नहीं हो

पाती, वरन् भक्त अपनी इच्छा से ही सहज अवस्था में लौट सकता है। 'स्वयं तत्पादुका निमज्जनं परिपूर्ण ध्यानम्' (भावनोपनिषद्) अर्थात् 'भगवान की पादुकाओं में निमग्न रहना हो ध्यान है।' और भक्तगण सदा ही भगवान् के चरण कमलों के ध्यान में निमग्न रहते हैं। नादविन्दु-उपनिषद् ने इस अवस्था का कितना यथार्थ वर्णन किया है -

दृष्टिः स्थिरो यस्य विना सदृश्यं
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्॥
चित्तं स्थिरं यस्त विनाऽवलम्बं
स ब्रह्मतारान्तर नादरूपः॥

अर्थात्—जिसकी दृष्टि न दिखाई देने वाली वस्तु के अभाव में स्थिर हो जाती है, जिसकी प्राणवायु चेष्टा के अभाव में निश्चल हो जाती है और जिसका चित्त आश्रय के अभाव में स्थिर हो जाता है, वह योगी ब्रह्म प्रणव रूपी नाद को तुरीय अवस्था में पहुँच जाता है।

उक्त श्लोक में योगी की जिस परम स्थिति का वर्णन किया है, वही स्थिति कीर्तनस्थ भक्त को स्वतः हो जाती है। क्योंकि उस समय वह अपनी कल्पना के अनुसार प्रभु के इच्छित रूप के दर्शन में तन्मय हो जाता है। यह स्थिति 'दृष्टिः स्थिरो यस्य बिना सदृश्यं' जैसी ही होती है, क्योंकि भगवान् का रूप तो उसने कभी देखा नहीं, अन्य ज्ञानी पुरुषों से सुनकर या चित्र आदि को देखकर ही निश्चय करता है कि भगवान् ऐसे होंगे और तब ध्यान में उसे वैसा ही रूप दिखाई देता है। क्योंकि 'जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरति देखी तिन तैसी।'

कीर्तन की तन्मयता में बाह्य चेष्टाओं की निवृत्ति

कीर्तन में स्थित हुआ भक्त नृत्यादि करता हुआ अन्त

में भावानुभूतियों में निमग्न होकर बाह्य चेष्टा से रहित हो जाता है। उसके अंगों में होने वाली गति अन्तर्मन के प्रभाव से हो होती रहती है और उस स्थिति में प्राण की गति में एक प्रकार की स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। प्राणायाम के अभ्यास में प्राण के निरोध का जो प्रयत्न करना होता है, वह कीर्तनस्थ साधक को अनायास हो सिद्ध हो सकता है।

चित्त को किसी प्रकार के आश्रय विशेष की अपेक्षा नहीं रहता वह न किसी बाह्य विषय के पीछे दौड़ता है और न किसी इन्द्रिय को ही उद्वेलित करना चाहता है। कीतनस्थ भक्त तो निस्पृह भाव से, सभी वासनाओं को छोड़ कर अपने भगवान् का तो आश्रय लेता है और इसी कारण भगवान् में योजित होकर वहीं स्थिर हो जाता हैं। इस प्रकार योगी और भक्त दोनों की समान स्थिति होती है और उन्हें फल की प्राप्ति भी समान रूप से ही होती है।

इस प्रकार ध्यानावस्था में निमग्न हुए योगी को तुरीयावस्था की प्राप्ति होती हैं तो कीतंनस्थ भक्त उससे भी अनन्य भाव वाली पराभक्ति के आश्रय से भगवान् में ही निमग्न हो जाता हैं। जो उपलब्धि योगियों को प्राप्त हो सकती है, उससे अधिक उपलब्धि का अधिकारी भगवद् भक्त हो जाता है। इसीलिए विद्वज्जनों के मत में अन्यान्य मार्गों को अपेक्षा भक्ति-मार्ग में अधिक सरलता है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुवीर परायन जेहिं नर उपज विनीत॥

इस प्रकार भक्तजन तो धन्य हैं ही, वे कुल भी धन्य हैं जिनमें भक्तों का जन्म होता है। क्योंकि किसी एक पीढ़ी

में उत्पन्न हुआ कोई एक सुकृती मनुष्य भी अपनी सभी पूर्व पीढ़ियों को तारने में समर्थ होता है। इसलिए मनुष्यों को विनय भाव पूर्वक भगवान् के चरण-कमलों में निश्चल प्रेम-भक्ति रखते हुए उन्हीं के परायण रहना चाहिए। क्योंकि जो लोग भगवान के परायण रहते हुए सदा उन्हीं का स्मरण चिन्तन करते रहते हैं, उन्हें किसी भी बात की चिन्ता नहीं रहती।

भक्ति और समाधि

ध्यान और समाधि योग क्रिया के प्रमुख अंग हैं। पहले कह चुके हैं कि ध्यान की दृढ़ता के बिना साधक को समाधि-अवस्था की प्राप्ति नहीं होती और समाधि योग को उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें आत्मा का परमात्मा स्वरूप में तादात्म्य हो जाता है। क्योंकि उस समय साधक का चित्त सभी विकारों से रहित, शुद्ध और परमात्मभाव में स्थिर रहता है। योग दर्शन के समाधिपाद में स्पष्ट मत व्यक्त किया गया है कि 'यथाभिमत ध्यानाद्वा' (३९) अर्थात् 'जिसे जो अभिमत हो, उसके ध्यान से चित्त स्थिर हो जाता है।'

समाधि में चित्त की तदाकारता

जब वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, तब चित्त स्फटिक मणि के समान पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाता है। 'ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः' (तथा वह मन) ग्रहीता (आत्मा) ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियां) एवं ग्राह्य (पंचभूत और उनके विषय) में स्थित होकर तदाकर हो जाता है तो यही समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि है।

शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों पृथक्-पृथक् है परन्तु निरन्तर अभ्यास से और परस्पर एक-दूसरे का सम्बन्ध होने से एक का ज्ञान होने पर दूसरे का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार जब तक शब्द, अर्थ और ज्ञान, तीनों की भिन्न-भिन्न प्रतीति हो तब तक सवितर्क या सविकल्प समापत्ति रहती है। परन्तु जब स्मृतियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब केवल आराध्य के रूप में जिस समाधि की स्थिति होती है, वह 'निर्वितर्क' कहलाती है। यही निर्वितर्क समाधि है।

समापत्ति के भेद

सवितर्क और निर्वितर्क समाधि के निरूपण से ही जो समापत्ति सूक्ष्म पदार्थ में की जाती है, उसके भेद सविचार और निर्विचार नाम से होते हैं। समाधि के यह चारों प्रकार निर्बीज माने जाते हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से इस प्रकार समझिये—

१—स्थूल पदार्थों, शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मुक्त भासने वाली चित्त वृत्ति होने पर सवितर्क समापत्ति।

२—शब्द, रूप और ज्ञान की जिसमें भिन्नता न रहे वह निर्वितर्क समापत्ति।

३—जिसमें देश, काल और निमित्त अर्थात् धर्म के विकल्प सूक्ष्म विषयों में रहें, वह सविचार समापत्ति।

४—जिसमें देश, काल और निमित्त के विकल्पों का सूक्ष्म विषयों में अभाव हो जाय; वह निर्विचार समापत्ति।

निर्विचार समाधि की उच्च अवस्था में जब रज, तम रूप मल का क्षय हो जाता है, तब चित्त की मलीनता मिट कर सत्वगुण का प्रादुर्भाव होने से अन्तःकरण शुद्ध और प्रफुल्लित हो जाता है और साधक को एक ही समय में प्रकृति

पर्यन्त सभी पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है। इसे अध्यात्म प्रसाद या प्रज्ञा-प्रसाद भी कहते हैं। उस समय साधक की बुद्धि सत्य का ही धारण करती है, इसलिए ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा से रहस्यों का साक्षात्कार

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उन रहस्यों का साक्षात्कार होने लगता है, जिन्हें सामान्य बुद्धि से नहीं जान सकते। इसके द्वारा आत्मा और संसार के प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ स्वरूप दिखाई देने लगता है। यही प्रज्ञा कर्माशय में संचित जन्म-जन्मान्तरों के बीज रूपी संस्कारों को नष्ट करने में समर्थ होती है और जब वे संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब संसार के सभी बन्धनों का नाश हो जाता है।

जब उक्त अवस्था में परिपक्वता आती है तब यह ऋतम्भर प्रज्ञा और इसके द्वारा उत्पन्न होने वाले सब संस्कारों का भी निरोध हो जाता है। उस समय साधक को किसी प्रकार की सुधि-बुधि नहीं रहती और संसार-प्रकृति के किसी बीज के भी शेष न रहने पर निर्बीज समाधि की प्राप्ति होत है। उस समय चित्त में कोई भी वृत्ति शेष नही रहती और बाह्य दृश्य के द्रष्टा का अभाव होने से चित्त केवल शुद्ध परमात्म-स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। यही अवस्था कैवल्य कहलाती है।

विवेक ज्ञान से व्युत्थान संस्कार का नाश

'प्रसंख्यानेऽप्य कुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' (यो. द. ४।२९) अर्थात् 'प्रसंख्यात ज्ञान में अकुसीद योगी का विवेकज्ञान निरन्तर प्रकाशित रहने से उसे धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है।

विवेक ज्ञान के आविर्भूत होने पर साधक के क्लेश बन्धन कट जाते हैं और वह सबका ज्ञाता एवं अधिष्ठाता हो जाता है। परन्तु, उस सामर्थ्य को प्राप्त होकर भी न तो वह उसमें लिप्त होता है और न उसके फल की ही इच्छा करता है। इस प्रकार जिसे फल की इच्छा नहीं रहती, उस योगी को अकुसीद कहते हैं। 'सर्वकर्मफल त्यागं यतः कुरु यतात्मवान्' (गीता) अर्थात् 'जीते हुए मन वाला होकर मेरे निमित्त सम्पूर्ण कर्मफल का त्याग कर।'

इस प्रकार जब विवेक ज्ञान का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है तब उसके व्युत्थान-संस्कार के बीज पूर्ण रूप भस्म हो जाते हैं। वह अवस्था धर्ममेघ समाधि कहलाती है। सम्प्रज्ञात समाधि की ही उच्च अवस्था का नाम विवेक ख्याति है और विवेक ख्याति की परिपक्व अवस्था होने पर वही धर्म मेघ समाधि है। इसकी ही पराकाष्ठा को पर वैराग्य कहते हैं, जिसका फल निर्बीज समाधि ही समझना चाहिए।

'ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः (यो० द० ४।३०) अर्थात् 'उस धर्ममेघ समाधि के होने पर क्लेश कर्म की निवृत्ति हो जाती है।' उसकी सिद्धि होने पर अविद्या आदि पंच क्लेश, शुभ अशुभ और मिश्रित तीनों प्रकार के कर्म तथा सब प्रकार की वासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह साधक जीवन्मुक्त समझा जाता है। क्योंकि उस समय तक उसके कर्माशय की समाप्ति हो चुकी होती है।

विषयों के ज्ञान का त्याग

योगवासिष्ठ में ज्ञेयता के शमन को मोक्ष कहकर अन्त में सब विषयों के ज्ञान को भी त्याज्य माना गया है। यथा—

ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बन्ध इत्यमिधीयते।
तस्यैव ज्ञेयता शान्तिर्मोक्ष इत्य मिधीयते॥

अर्थात् 'ज्ञान की ज्ञेयता का उत्पन्न होना ही बन्ध कहा जाता है और ज्ञान की ज्ञेयता के शमन को ही मोक्ष कहते हैं।"

जैसे अज्ञान से मनुष्य अन्धकार में रहता है, वैसे ही ज्ञान से सभी जानने योग्य वस्तुओं की जानकारी हो जाती है। वे वस्तुएँ जानी जाने पर अपनी ओर आकर्षित करती हैं, इसलिए उनकी जानकारी का त्याग आवश्यक है। जब साधक जानने योग्य वस्तुओं के ज्ञान को छोड़ देता है तभी वह निर्विकार भाव को प्राप्त हो सकता है। इसका अभिप्राय यही कि ज्ञेयता हो तो केवल परमात्म रूप ज्ञेयता हो तो केवल परमात्म रूप ज्ञेय की ही होनी चाहिए। जब साधक में ज्ञेयता का अभाव हो जाता है, तभी उसके कर्माशय की समाप्ति हो सकती है। अन्यथा ज्ञेयता से ज्ञात हुए कर्म में प्रवृत्ति होना अस्वाभाविक नहीं।

वसिष्ठजी के उक्त उत्तर को सुन कर श्रीरामचन्द्रजी ने उनसे पुनः प्रश्न किया कि ज्ञान की ज्ञेयता किस प्रकार शान्त होती है? उसका दृढ़ अभ्यास होने पर वह बन्धन बुद्धि किस प्रकार दूर की जा सकती है?' इसके उत्तर में वसिष्ठजी कहते हैं—

सम्यग्ज्ञानेन बोधेन मन्द बुद्धि निर्वतिते।
निराकारा निजा शान्ता मुक्तिरेव प्रवर्तते॥

अर्थात्—सम्यक् ज्ञान का प्रबोध होने पर मन्द बुद्धि का निवारण हो सकता है और ऐसा होने पर ही वह अपने निराकार शान्त रूप मोक्ष में प्रवृत्त होती है।

संचित अनेक कर्मों का सद्भाव होने से उनके फल रूप भोग का होना अवश्यम्भावी है। प्रारब्ध फल के लक्षण वाले कर्म जब तक क्षय को प्राप्त नहीं होते तब तक मोक्ष की

सम्भावना नहीं हो सकती। क्योंकि जब तक वे कर्म रहेंगे तब तक चित्त में स्थिरता होना सम्भव नहीं होगा।

प्रारब्ध के फलरूप ज्ञान और भोग

यदि कहा जाय कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होकर जब कर्म क्षेत्र का ही विलय हो जायगा, तब कर्म के फल का भय ही क्यों रहेगा? इसके समाधान में जगद्गुरु शंकराचार्य का कथन है कि 'आरब्धस्य फले ह्येते भोगो ज्ञानं च कर्मण:' अर्थात् 'ज्ञान और भोग दोनों प्रारब्ध कर्म के ही फल हैं।' इसलिए इन दोनों में अविरोध सिद्ध है। आचार्य की उक्त मान्यता का अभिप्राय यही है कि भोगों का ज्ञान होने पर ही भोगों की आकांक्षा होती है। वे भोग चाहे शुभ हो या अशुभ, अपना-अपना फल तो प्रत्यक्ष करेंगे ही। यह बात दूसरी है कि शुभ कर्मों से शुभ फल की और अशुभ कर्मों से अशुभ फल की प्राप्ति होती है। परन्तु जब तक दोनों प्रकार के कर्मों में से कोई एक कर्म भी शेष रहेगा, तब तक भोग की स्थिति बनी ही रहेगी।

उसका सबसे प्रमुख कारण यह माना जाता है कि जीवात्मा अज्ञानवश संसार में आता और कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता बन बैठता है। तब उसके कर्त्तापन का अहंकार ही उसके बन्धन का कारण बन कर उसे आवागमन के चक्र में घुमाता रहता है। उसके वे कर्म बन्धन ही उसे क्लेश में डाल देते हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलि ने उन बन्धनकारी कर्मों को क्लेश कर्म की संज्ञा दी है।

क्लेश कर्मों की निवृत्ति के पश्चात् व्युत्थान के संस्कार अदृश्य भी हो जाते हैं, क्योंकि उस स्थिति में वे संस्कार व्युत्थान की वृत्तियों को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं। उसका

यथार्थ कारण यही है कि जब चित्त सम्पूर्ण रूप से ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, तब उसमें व्युत्थान वृत्तियों का पुनः प्रभाव उत्पन्न होना संभव नहीं रहता। इसीलिए योग-साधकों को पहले विवेक ज्ञान से अभ्यास से व्युत्थान के संस्कारों का निरोध और निरोध संस्कारों से विवेक संस्कारों को क्षय करने का निर्देश दिया गया है।

उतना सब होने पर असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा निरोध संस्कारों का पूर्ण रूप से लय किया जाना सम्भव है और जब इसमें सफलता मिल जाय तभी आनन्दरूप कैवल्य की उपलब्धि होती है। परन्तु साधक को केवल विवेक ज्ञान की प्राप्ति में ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए, उसे अपनी समाधि अवस्था का परिपक्व करते हुए धम मेघ समाधि तक पहुंचना चाहिए।

धर्ममेघ समाधि में अनन्त ज्ञान की उपलब्धि

धममेघ समाधि को प्राप्त हुआ योगी अनन्त ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है। उस समय उसके लिए सभी अप्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। उसके नेत्रों में ऐसी दिव्य दृष्टि का आविर्भाव हो जाता है कि न दिखाई पड़ता हुआ दृश्य भी उसके लिए अदृश्य नहीं रहता और जब ऐसा हो जाता है, तब गुणों के परिणामों की भी समाप्ति हो जाती है तब 'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव कैवल्यं स्वरूपप्रयिष्ठा वा चितिशक्तेरिति' (यो. द. ४।६४) अर्थात्—'पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लय होना अथवा चिति शक्ति का अपने रूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।'

गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और अपवर्ग के सम्पादनार्थ होती है, इसलिए पुरुष का पुरुषार्थ भी भोग और अपवर्ग ही है जिस व्यक्ति के भोग और अपवर्ग पूर्ण हो जाते हैं, उनके

लिए फिर कोई कार्य शेष नहीं रह जाता और उस स्थिति में पुरुषार्थ का सम्पादन होने से कृतार्थ हुए अपने कारण में लय को प्राप्तहो जाते हैं, अर्थात् मन अहंकार में, अहकार बुद्धि में और बुद्धि प्रधान प्रकृति में लय हो जाती है। इसी को गुणों का कैवल्य कहते हैं अथवा चिति शक्ति (द्रष्टा पुरुष) के अनादि अविद्या कृत संयोग का अभाव हो जाने पर अपने शुद्ध असंग कूटस्थ निरावरण आनन्दस्वरूप अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाना पुरुष का कैवल्य समझना चाहिए। गीता (१८।५४) के अनुसार--

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

अर्थात्—सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में ऐक्य भाव से स्थित हुआ प्रसन्नात्मा मनुष्य न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी वस्तु को प्राप्त करने की चाहना ही रखता है। वह तो सभी भूतों के प्रति समान भाव रखता हुआ मेरी परा-भक्ति को प्राप्त होता है।

गीता (६। २९) में सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि' इत्यादि से स्पष्ट कर दिया है कि योग से युक्त हुआ आत्मा ही सब जीवों में समान भाव रख सकता है। क्योंकि असमान भाव से रागद्वेष आदि विकारों का बने रहना स्वाभाविक है और जब तक वे विकार बने रहेंगे तब तक भगवान् की भक्ति में भी चित्त नहीं लग सकता। इसीलिए योग युक्त भक्त को स्वयं में सभी को और सभी में स्वयं में देखने का निर्देश है। जब वह सब प्राणियों को अपने में देखने लगता है तभी वह भगवान् को देखने में समर्थ होता है। क्योंकि सभी प्राणी भगवान् के ही अंश-भूत हैं और जो व्यक्ति सब प्राणियों से प्रेम करता है, उसी

पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसीलिए भगवान् का कथन है कि 'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति' अर्थात् "उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और न वह ही मेरे लिए अदृश्य होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सब जीवों में आत्मभाव रखने वाले भक्त के लिए भगवान् का साक्षात्कार सुलभ एवं अवश्यभावी है और उस पर प्रसन्न हुए भगवान् सदैव उस पर अपनी कृपा-दृष्टि रखते हैं।

विश्व का आत्मवत् दर्शन

सब प्राणियों को आत्मवत् देखने से ही मन में एक प्रकार की निष्ठा उत्पन्न होती है और निष्ठा उत्पन्न होने से भगवान् के पराक्रम-विषयक वृत्तान्तों में चित्त लगता है। उस समय अन्य विषयों से विरक्ति को प्राप्त हुआ चित्त भगवान और उनके भक्तों के प्रति श्रद्धाभाव से सम्पन्न हो जाता है। गीता (६।४७) में ऐसे भक्त के प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए भगवान् स्वयं कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

अर्थात्—सभी योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी है, वह मेरे में लगे हुए अन्तरात्मा से निरन्तर मुझे ही भजता है। इसलिए मेरे मत में वह योगी अत्यन्त श्रेष्ठ है।

और भक्त तो सदा ही श्रद्धावान् रहता है। क्योंकि भक्ति तो श्रद्धा के बिना कभी हो ही नहीं सकती। यदि चित्त में भगवान के प्रति श्रद्धा भाव उत्पन्न नहीं होगा तो भक्ति का उदय होना भी असम्भव ही है। 'बिन श्रद्धा विश्वास के फले न कोई पुन्न' कैसा भी पुण्य, दान, भक्ति या कोई अन्य शुभ कर्म किया जाय, श्रद्धा और विश्वास के बिना उसमें

चित्त की अनन्यता नहीं होगी और यदि चित्त की अनन्या नहीं तो कर्म का फल मिलना भी असम्भव है।

इस प्रकार सब जीवों में आत्म-भाव रखते हुए उनके कल्याण की बात सोचे, उनके दु:ख को अपना ही दु:ख माने और किसी को दुःखित देखकर उसके दुःख दूर करने का प्रयत्न करे, यदि यह सम्भव न तो सान्त्वना देने का अवश्य प्रयत्न करे और सदा यह ध्यान रखे कि स्वयं तो किसी से शत्रु-भाव न रखने के प्रयत्न में तत्पर रहे ही, यदि कोई अन्य व्यक्ति शत्रु भाव रखे तो उसे भी विपत्ति में पड़ा देखकर प्रसन्न न हो।

सब प्राणियों को आत्मवत् मान लेने के पश्चात् अन्यान्य विषयों से मुक्त होने का प्रयत्न करे। भगवान् के चरित्रों श्रवण, अध्ययन, मनन आदि करे। उससे भगवान् के प्रति निष्ठा का भाव उत्पन्न होकर उनमें और उनके भक्तों में श्रद्धा का प्राकट्य होने लगेगा। उस श्रद्धा के साथ विश्वास का योग होना तो स्वाभाविक है ही। जब मनुष्य उक्त सब गुणों से समन्वित हो जाता है, तभी वह भक्त कहलाने का अधिकारी होता है।

चित्त की एकाग्रता से दिव्य अनुभूति

उक्त गुणों की उपलब्धि होने पर ही भक्त का चित्त एकाग्रता पूर्वक भगवान् के चिन्तन में लगता है। उस समय उसके समस्तभाव अपने प्रभु के ही रंग में रंगे होते हैं और वह उनके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में सोचना भी नहीं चाहता। ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ भक्त भगवान् के प्रेम सागर में डूबने-उतराने लगता हैं। वह उसी रस सागर में निमग्न रहने की उत्कण्ठा लिये भगवन्नाम स्मरण में मन और वाणी को योजित कर देता है।

जब मन और वचन भगवान् में लग जाते हैं, तब कर्म कहीं अन्यत्र कैसे जाय ? भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य के कार्य को किस प्रकार करे ? क्योंकि उसे भी तो मन, वाणी का साथ देना आवश्यक होता है । इस लिए कर्म भी भगवान् के आश्रय में चला जाता है और तब भगवान् की अनन्य भक्ति में डूबा हुआ भक्त जाने-अनजाने स्पन्दनशील हो उठता है। उसका आत्मा एक दिव्य अनुभूतिमय उद्वेलन को प्राप्त हो जाता है, तब उसके विभिन्न अंग स्वतः ही फड़कने लगते हैं। बस, वही स्थिति भक्त को सहसा नर्तनमय बना देती है । वह अपने आत्मोद्वेलन के प्रभाव से उठकर नाचने लगता है तब मन भगवान् में अनन्य भाव से निमग्न रहता और वाणी भगवन्नाम के उच्चारण में व्यस्त हो जाती है । यही स्थित कीर्तन में ध्यान की अवस्था उत्पन्न करती है और उसमें भी अधिक तन्मयता उत्पन्न होने पर भक्त नाचता कूदता, गाता एवं विभिन्न भावों को प्रकट करता हुआ भी समाधिस्थ हो जाता है । योगाचार्यों ने जिस अवस्था को 'कैवल्य' कहा है, वह इससे भिन्न नहीं समझी जा सकती ।

समाधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बनता है - विक्षेपों को नष्ट करके चित्त का एकाग्र हो जाना । जब ध्यान और ध्येय दोनों के मिलकर एकाकार होने का अनुभव होने लगे तभी वह अवस्था समाधि कहलाती है । यदि यह कहा जाय कि समाधि ध्यान की ही सर्वोत्कृष्ट स्थिति का रूप है तो उचित ही होगा । समाधि का स्वरूप बताते हुए महर्षि-याज्ञवल्क्य कहते हैं—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिरभिधीयते ॥

अर्थात् —जब जीवात्मा और परमात्मा साम्यावस्था में आकर ब्रह्मरूप हो जाते हैं, तभी समाधि होती है।

योगवासिष्ठ में 'इमं गुण समाहारमनात्मत्वेन पश्यतः' इत्यादि कहकर स्पष्ट किया गया है कि 'जब हम इस गुण समूह को आत्मा से पृथक् देखकर अन्तःकरण में शीतलता का अनुभव करते हैं, तब वह अवस्था 'समाधि' कहलाती है।

समाधिस्थ, जीवन्मुक्त, ब्रह्मभूत एवं स्थितप्रज्ञ के समान लक्षण हैं। गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के जिन लक्षणों का प्रतिपादन हुआ है वे सभी कीर्तनस्थ पुरुष की तन्मयावस्था में पाये जाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जब यह पुरुष मन में विद्यमान सभी कामनाओं का त्याग कर देता है तब वह आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट हुआ पुरुष स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धि वाला) कहलाता है, (२।५५)।

स्थितप्रज्ञ को प्रदात्म्य भाव की प्राप्ति

सभी कामनाओं के त्याग से भोग की कोई आशा या इच्छा शेष नहीं रहती, तब वह साधक अपने आप में ही सतुष्ट हो जाता है और उस अवस्था में उसकी बुद्धि पूर्णतया स्थिर हो जाती है। इसलिए उसकी संज्ञा 'स्थितप्रज्ञ' होती है। ऐसा व्यक्ति अनन्यतम भाव से भगवान् में ही लीन हो जाता है।

दुःखों की प्राप्ति में भी जिसका मन उद्वेग-रहित है और सुखों की प्राप्ति में भी जिसकी स्पृहा समाप्त हो गई है तथा जिसके राग, भय, क्रोध (आदि) भी दूर होगए हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहलाता है। (२।५६) अभिप्राय यह है कि जो साधक दुःखों के प्राप्त होने पर दुःखित नहीं होता और सुख-प्राप्ति की आशा को भी छोड़ चुका है, इसलिए उसके राग,

भय, क्रोध आदि विषय विकार नष्ट हो गये हैं और बुद्धि एकमात्र भगवान् के प्रति स्थिर हो गई है, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेह से रहित हुआ पुरुष उस-उस शुभ और अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर प्रसन्न नहीं होता और न द्वेष ही करता है, उसकी बुद्धि स्थिर रहती है। (२।५७) और जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही यह साधक जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। (२।५८) यद्यपि विषयों को ग्रहण करने वाले पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग निवृत्ति नहीं होते, किन्तु इस पुरुष (स्थितप्रज्ञ) का तो राग भी परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करके निवृत्त हो जाता है। (२।५९) आचार्य शंकर का विषय-त्यागी पुरुष की दृढ़ता के प्रतिपादन में सोदाहरण निर्देश किया है—

क्षुधया पीडयमानोऽपि न विषं ह्यतुमिच्छति।
मृष्टान्नध्वस्ततृड् जानन् नामूढस्तज्जिघत्सति॥

अर्थात्—जैसे भूख से अत्यन्त पीड़ित होता हुआ भी कोई मनुष्य कभी विष खाने की इच्छा नहीं करता, वैसे ही दुःखों के साधन रूप विषयों को भी त्याग देने के पश्चात् कभी कोई विज्ञ पुरुष पुनः ग्रहण नहीं करना चाहता।

इस प्रकार विषयों को विष के समान समझकर उनका सर्वथा त्याग ही श्रेयकर है। उनके त्याग से चित्त में जिस स्थिरता की प्राप्ति होती है, वह धीरे-धीरे दृढ़ होती जाता है और उसके फलस्वरूप जैसे-जैसे राग की निवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे ही आत्मा को आवरित करने वाला अज्ञान रूप मल छंटता चला जाता है और तब एक अवस्था

वह आ जाती है, जबकि परमात्म तत्व का साक्षात्कार होने लगता है। वही स्थिति स्थित प्रज्ञ पुरुष की होती है।

कीर्तन करते-करते भी चित्त बाह्य विषयों से विमुख होने लगता है। क्योंकि उस समय कीर्तनस्थ भक्त को भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य की आकांक्षा नहीं रहती वह तो भगवान् के ध्यान में निमग्नता को प्राप्त हुआ तादात्म्य भाव में लीन हो जाता है और उसकी बुद्धि एक मात्र परमात्मा में स्थिर हो जाती है। यही अवस्था गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष की होती है। इस प्रकार योगी की समाधि अवस्था और भगत की कीर्तनस्थ तन्मयता समान लक्षण और समान फल वाली होकर साधक का सायुज्य लाभ की ओर उन्मुख कर देती है और ज्ञानी पुरुषों के अनुसार यही अवस्था 'कैवल्य' है।

'सनष्ट सर्व संकल्पः समाधिरभिधीयते' स्कन्द पुराण अर्थात् 'समाधि उसे कहते हैं, जिसमें सम्पूर्ण संकल्प नष्ट हो जाते हैं।' भगवान् का भक्त जब भक्तियोग के आश्रय में भगवान् के ध्यान में लीन होता है, उस समय उसके चित्त में कोई भी संकल्प शेष नहीं रहता। परन्तु इस स्थिति तक पहुँचने के लिए चित्त की स्वच्छता, विषयों में अनासक्ति, ईश्वर में समर्पण, अटूट विश्वास इत्यादि गुणों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। केवल भक्ति का आडम्बर करने और स्वयं को भक्त मानने या कहलाने भर से भक्ति की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। इसके लिए मनुष्य को सदा अच्छे कर्म करने चाहिए।

शुभ कर्म और सत्संग की अमोघता

अच्छे कर्मों में सभी शुभ कर्म आते हैं, जो बाह्य और आन्तरिक शुद्धि में लाभदायक हो। अष्टांग योग में यम, नियम

पालन का उद्देश्य शरीर और मन का शोधन ही था। परन्तु यम, नियम भी किसी सद्गुरु द्वारा अभ्यास कराये जाने पर शीघ्र सफलता प्राप्त कराने वाले होते हैं। इसीलिए सभी आर्ष सद्गुरु की सेवा करने और उनसे ज्ञान ग्रहण करने की महत्ता स्वीकार करते हैं।

गुरु से ज्ञानोपदेश ग्रहण करने के पश्चात् भी सत्पुरुषों की संगति में रहना अत्यन्त हितकर रहता है। यदि सत्पुरुष अपनी महानता के कारण कृपा करें तो साधक का बहुत कुछ उपकार सिद्ध हो सकता। क्योंकि सत्पुरुषों का संग उद्देश्य-पूर्ति में सहायक भी है और सब प्रकार से कल्याणकारी भी है। परन्तु, उसकी प्राप्ति में कुछ कठिनाई अवश्य हो सकती है और उस कठिनाई का कारण यह हैं कि सत्पुरुष या महान् पुरुष थोड़े ही होते हैं। इसीलिए 'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्यो-ऽमोघश्च' कहते हुए भक्ति सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि 'महापुरुषों का संग मिलना बहुत दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

लोक-व्यवहार में संगति दो प्रकार की है—(१) सुसंगति, और (२) कुसंगति। सुसंगति का अर्थ है महान पुरुषों, सदाचारियों, सन्तजनों या भक्तों आदि की संगति में रहना और कुसंगति का अर्थ है बुरे व्यक्तियों का सग करना। परन्तु श्रेष्ठ पुरुषों का संग भी ईश्वर की कृपा के बिना नहीं होता। क्योंकि भगवान् ही अपने भक्त को उसकी प्रेरणा करते हैं। यदि आत्म कल्याण की आकांक्षा है तो सर्व प्रथम ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करो और उस कार्य के लिए भगवान् के किसी भक्त की शरण में जाओ। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार 'तस्मि-स्तज्जने भेदाभावात्' अर्थात्, 'भगवान् और उनके भक्त में

परस्पर कोई भेद नहीं होता।' जैसे दूध में दूध मिल जाय तो वह अभेद ही रहते हैं, उनमें पृथक्ता तो नाम को भी नहीं होती। एक मान्यता यह भी है कि भगवान् भक्त भी किसी का उद्धार करने में उतना ही समर्थ है, जितने कि भगवान्। क्योंकि कभी-कभी तो भक्त की परम भक्ति देखकर भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं। इसीलिए भक्तों और सन्तजनों की सेवा और संगति को प्रशस्त समझा गया है।

कुसंगति से इहलोक-परलोक का विनाश

परन्तु, उसके विपरीत—कुसंगति का मनुष्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उसके कारण बड़े-बड़े उच्च घराने बिगड़ते हुए देखे जाते हैं। अत्यन्त सात्विक प्रवृत्ति वाले मनुष्य भी बुरे व्यक्तियों के संग में पड़कर दूषित हो गए, उनका आचरण गया। बिगड़ मद्य-पान करके घर आये और बिना बाल-बच्चों की चिन्ता किये सो गये अथवा किसी बात पर रुष्ट हुए तो लगे पत्नी को मारने। मद्य-पान आदि के व्यय के लिए धन तो चाहिए ही, कमाई हो या न हो, उसकी आदत भी सहज में नहीं छूट पाती। यदि कोई अन्य स्रोत नहीं होता तो ऐसे लोग पत्नी से ही धन की अपेक्षा करते हैं। उसे मार-पीट कर, जो कुछ आभूषण आदि उसके पास होता है, ले जाते हैं। फिर जब वह भी नहीं रहता तब गृह-कलह तो बनी ही रहती है। इस प्रकार घर की सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है तो भगवान् के प्रति प्रेम और भक्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती।

कुछ व्यक्ति इतने कामुक और दूषित विचार के होते हैं कि उन्हें रात-दिन परनारी-चिन्तन में ही आनन्द आता है। वे व्यभिचार, बलात्कार में रुचि रखते हुए अपने कुल की

प्रतिष्ठा, धर्म आदि सभी कुछ भूल जाते हैं। उन्हें चाहे जिस दिन वेश्याओं के कमरों में पड़ा रहना ही अच्छा लगता है। घर में सुन्दर स्त्री के होते हुए भी, बाहर की घृणास्पद स्त्रियों से प्रेम रखते हैं। पत्नी रात-रात भर बैठी रह कर प्रतीक्षा करती है, उसका कोरी आँखों सवेरा होता है। ऐसे लोग दूसरों को भी अपने समान दुश्चरित्र बना लेते हैं। इसलिए इस प्रकार के अनाचारियों की संगति कुसंगति ही है, उससे बचना ही श्रेयस्कार है।

मद्य, मैथुन, माँस आदि का सेवन ऐसा दूषित कार्य है, जिसका एक बार चस्का लगा तो सहज में ही छोड़ना कठिन हो जाता है। इससे धन, स्वास्थ्य, प्रतिष्ठा और धर्म की भी हानि होती है। मनुष्य इह लोक और परलोक दोनों से भ्रष्ट हो जाता है। जो लोग ऐसा आचरण करते हैं वे स्वयं को तोनट कर दूसरों को भी बर्बाद किये बिना नहीं रहते। इसलिए कल्याण के इच्छुक मनुष्यों को इस प्रकार के कुसंग से सदा ही बचना चाहिए। 'दुःसंग सर्वथैव त्याज्यः अर्थात् 'दुःसंग या कुसंग को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।'

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि विकारों की उत्पत्ति में कुसंग भी एक कारण बन जाता है। धीरे-धीरे वह विष-बेल वनकर हरे-भरे जीवन को नष्ट कर डालता है। इस प्रकार कुसंगति से मन में अशान्ति बनी रहती है और भविष्य भी अन्धकारमय हो जाता है। भक्तिसूत्र में कहा है—'काम क्रोध. मोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्' अर्थात् 'कुसंगति से काम, क्रोध, मोह, स्मृति भंग, बुद्धि हीनता और सर्वनाश की प्राप्ति होने से कुसंग का सर्वथा त्याग आवश्यक है।' जगद् गुरु शंकराचार्य का कथन है—

सत्सङ्गत्वे निस्संगत्वं निस्संगत्वे निर्मोहत्वं ।
निर्मोहत्वे निश्चलत्वं निश्चलत्वे जीवन्मुक्तिः ।।

अर्थात्—सन्तजनों के सङ्ग से मनुष्य सङ्ग-रहित (वासना से रहित) हो जाता है, उस सङ्ग-राहित्य से मोह राहित्य की प्राप्ति होती है, जब मोह नहीं रहता तब चित्त में स्थिरता हो हो जाती है और चित्त की स्थिरता होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

सन्तजनों की संगति से ही मनुष्य अपने लिए कल्याण-मार्ग को प्रशस्त बनाता है । भक्तिसूत्र के अनुमार 'कस्तरित मायाम्, यः सगास्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति' अर्थात् 'माया से कौन पार होता है ? वही पार होता है जो कुसंग त्याग कर देता है, महात्मओं का संग करता और ममता स रहित हो जाता है ।'

इस प्रकार आचार्यों ने सुसंगति को श्रेयस्कार और कुसंगति को अहितकर बताकर साधक के लिए श्रेयमार्ग का निश्यच किया है उसके अनुसार आचरण करने वाले पुरुषों का अवश्य ही अपने प्रयत्न में सफलता मिलती है ।

दिखावटी शुद्धाचार का आडम्बर और उसका निषेध

कुछ व्यक्ति शुद्धाचार मात्र को ही भक्ति का प्रमुख साधनमान बैठते हैं । वे शौच के लिये जायगे तो वस्त्र वदल कर, भोजन करेंगे तो चौके में बैठकर अथवा जाति-पांति और छूत-छात से बचते बचाते हुए अत्यन्त पवित्र रहने का आडम्बर करेंगे । कोई किसा मत-मतान्तर में पड़कर तिलक, छापे, कण्ठी आदि के विभिन्न चिन्हों को धारण करना ही भक्ति

समझ लेंगे । परन्तु आचरण की पवित्रता को ओर अधिक ध्यान न देकर मिथ्या-भाषण,असत्य व्यवहार, परनिन्दा, परधन और परत्रिय-लोलुपता आदि के चक्र में पड़े हुए भ्रमते रहेंगे। परन्तु, ध्यान राखये कि ऐसे व्यक्ति भक्त नहीं हैं, वरन् वे भक्त के रूपक का प्रदर्शन करने वाले हैं । उनको वही स्थिति है 'काक पंख पर पोत चूर्णक ज्यों मराल वन आया।'

भक्ति का प्रमुख साधन सर्व समर्पण

भक्ति किसी सम्प्रदाय विशेष के आश्रय में नहीं रहती। तिलक, छापे, कण्ठी आदि भक्ति के चिन्ह नहीं हैं, वरन् वे तो सम्प्रदायवादियों की कपोल—कल्पना मात्र है । हमारा मन्तव्य यह नहीं है कि शरार के बाह्य शोधन से विमुख रहा जाय। उसका भी जितना किर्वाह किया जा सके उतना हो हितकर है। परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है आन्तरिक शोधन—मन को विषयों या संकल्पों से हटाने का अभ्यास। क्योंकि इसमें सफल होना ही तो भगवान् में समर्पण की भावना को हढ करता है। यही अनासक्ति है, परन्तु यह अभ्यास से सिद्ध होती है, कहने भर से नहीं। जब तक इसकी सिद्धि नहीं होगी तब तक भक्ति की प्राथमिक नवस्था भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

ईश्वर में अटूट विश्वास होना भक्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि विश्वास नहीं तो भक्ति का भी उदय नहीं हो सकता। क्योंकि विश्वास होने पर ही श्रद्धा उत्पन्न होती है श्रद्धा से साधक समर्पण बुद्धि को प्राप्त होकर भगवान् का अनन्य भक्त बनने का प्रयत्न करता है। उस समय उसकी रुचि किसी भी प्रकार के दिखावटी कर्म में नहीं होती, यहा

तक कि उसे अपने शरीर तक का भी ज्ञान नहीं रहता और जब वह वाह्यज्ञान से शून्य हो जाता, तभी उसे समाधि अवस्था की प्राप्ति होती है। भगवद्गीता (१२।६-७) में भगवान् स्वयं कहते हैं—

> ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
> अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
> तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
> भवामि नचिरात्पार्थं मय्यावेशितचेतसाम् ॥

अर्थात्–मेरे परायण हुए जो भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मेरे मे अर्पण करके मुझ परमेश्वर को ही अनन्य भाव से निरंतर ध्याते हुए भजन करते हैं, उन मेरे में ही चित्त लगाने वाले भक्तों का मैं शीघ्र हो मृत्युरूप ससार सागर से उद्धार करने वाला होता हूँ।

कर्माधिकारी भक्त और फलाधिकारी भगवान्

उक्त श्लोकों में सभी कर्मों को भगवान् के लिए समर्पण कर देने का निर्देश है। सब कर्मों का अभिप्राय है प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण कर्म। परन्तु यहाँ यह शंका होती हैं कि सभी कर्म किस प्रकार अर्पण किये जांय ? क्योंकि उनमें प्रथम कर्म (प्रारब्ध कर्म) तो पूर्वजन्म में हुए थे, जिन्होंने संस्कार बन कर वर्तमान शरीर का जन्म, भोग, आयु सभी कुछ निश्चित कर दिया, तब उनका समर्पण किस प्रकार हो ?

उक्त शका के समाधान में अनेक विद्वानों का मत है कि कर्म कोई भी हो, उसके करने का अधिकार ही भक्त को है, फल तो भगवान के अधीन है। वेदान्त शास्त्र भी फल का देने वाला ब्रह्म को ही मानते हैं। 'फलमत उपपत्तेः'

(ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) के अनुसार 'कर्मफल की प्राप्ति ईश्वर के द्वारा होना ही सम्भव है।' क्योंकि ईश्वर ही सब का अधीश्वर, सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्त्ता है तथा वही देश-काल का विशेषज्ञ होने के कारण कर्म करने वालों को फल देने में समर्थ है सुख दुःख का भोग ही लोक में कर्मफल देने नाम से प्रसद्धि है। श्रुति (बृह० ४।४।२४) ने भी ईश्वर को फल देने में हेतु माना है, यथा 'स वा एव महाजन आत्मान्नादो वसुदानः' अर्थात् 'वही महानात्मा (परमात्मा) अन्न और धन प्रदान करने वाला है।' अन्य श्रुति अनुसार 'एव ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादि से 'वह जिसे उच्च लोकों में ले जाना चाहता है, उससे शुभ कर्म कराता है और जिसे नीची गति देना चाहता है, उससे अशुभ कराता हैं।' अभिप्राय यह है कि पाप-कर्म के फल रूप अशुभ कर्म करने की और पुण्य कर्म के फल रूप शुभ कर्म करने की बुद्धि होती है। गीता में भी ऐसा ही कहा है कि 'जो-जो भक्त जिस-जिस स्वरूप की श्रद्धा पूर्वक भक्ति करता है उसकी अचल श्रद्धा का धारण में ही कराता हूँ। वह श्रद्धा से सम्पन्न होकर उसका आराधन करता है और मुझसे ही कामना-प्रप्ति करता है।' इससे यही सिद्ध होता है कि जीव कृत कर्मों का फल देने वाला ईश्वर ही है। इस प्रकार जब ईश्वर ही कर्म करने की प्रेरणा देता है और वही शरीर में विद्यमान रह कर भोक्ता बनता है, तो यह मानकर कि सब कर्म 'उसी के दिये हुए हैं, इसलिए उसी में अर्पण कर देना उचित है' और तब वह निस्पृह भाव से सभी कर्म ईश्वर में अर्पण कर देना कर्म का संन्यास ही है। इससे यही मान्यता ठीक है कि सभी प्रकार के कर्म भगवान् को समर्पित का ही निर्देश है।

भक्त के प्रति भगवान् का उत्तरदायित्व

भगवान् केवल कर्मों का अर्पण करने का ही आदेश नहीं देते, वरन् वे तो अपने भक्त के पालन का भी पूरा भार अपने पर ले लेते हैं। इसीलिए तो वे कहते है कि 'मत्पर:' अर्थात् मेरे ही परायण हो, मुझी पर भरोसा रख, किसी दूसरे की तो बात भी मत सोच। क्योंकि –

मेरौ भक्त कहाय जो, औरु देव रह्यौ ध्याय।
रजक-स्वान सम सो मनुज, मेरी भक्ति न पाय ॥

वसे तो अन्यान्य सभी देवता भगवान् के ही स्वरूप या अंशभूत हैं, परन्तु उन सब की भक्ति या उपासना का फल समान नहीं है। वे काम्य फलों का देने की सामर्थ्य वाले होने के कारण सामुज्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकते। क्योंकि कामना से भजे जाने वाले देवता भी काम्य: फल वाले ही होंगे और वे कर्म के अनुसार ही फल प्रदान करेंगें।

इस प्रकार देवताओं का भक्ति में जो स्वार्थ होता है, उसका त्याग किये बिना भगवान् की भक्ति नहीं हो सकती। कभी किसी देवता विशेष का पूजन कर लिया तो कभी किसी भगवान् का नाम लेलिया, यह मुमुक्षुओं के लिए फलदायक नहीं हो सकता। गृहस्थ जन भले हा उससे लाभ उठा लें। इसीलिए तो भगवान् अपने भक्त को 'अनन्येनैव योगेन' अर्थात् अनन्य भाव से ध्यान करने की आज्ञा देते हैं।

अनन्य भाव का अर्थ है अपने से भिन्न न मानना। भक्त में ऐसी सुदृढ़ भक्ति का आविर्भाव हो जाना चाहिए कि

वह यह समझने लगे कि जो मैं हूँ, वही भगवान् हैं। यह उपदेश आत्मा-परमात्मा के ऐक्य भाव को प्रदर्शित करता है। उस प्रकार का ऐक्य भाव जिसका अभिप्राय हो कि मैं आत्मा हूँ तो परमात्म मेरे जीवन प्राण हैं, उनके बिना मैं उसी प्रकार जीवित नहीं रह सकता जिस प्रकार कि प्राण के निकल जाने पर शरीर मृत घोषित कर दिया जाता है। इसमें यह भी मान्यता निहित है कि भगवान् में अनन्य भाव होने से ही संसार-सागर से उद्धार हो सकता है। यदि अनन्यता का भाव नहीं तो उसे सच्ची भक्ति भी नहीं कह सकते।

अनन्य भाव का अर्थ भगवान् से तादात्म्य हो जाना है। जो भक्त ऐसे भाव का सिद्ध कर चुका है, वह भगवान् के अन्यान्य भक्तों में भी भगवान् के स्वरूप को देखता हुआ उनके प्रति भी तादात्म्य भाव ही रखता है। वह समझता है कि उन भक्तों में और भगवान् में कोई भेद नहीं है, इसलिए मुझमें और उन भक्तों में भी कोई भेद नहीं हो सकता। यही कारण है कि भक्त के हृदय 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना जाग्रत् हो जाती है और वह प्राणी मात्र को अपने ही रूप में देखने लगता है।

सभी भूतों के अन्तरात्मा भगवान्

और अनन्य भाव का उक्त निर्देश आत्मा-परमात्मा के अभेद को भी सिद्ध करता है। श्रुतियों की भी ऐसी ही मान्यता है—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छान्दो०) अर्थात् 'हे श्वेतकेतो! यह जो आत्मा है वही तू है।' अथवा 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' अर्थात् 'हे देवते, हे भगवन्! तू ही मैं हूँ और मैं ही तू है।' श्वेताश्वतर उपनिषद्

में भी ऐसा ही मिलता है कि 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' अर्थात् 'सब भूतों में गूढ रूप से स्थित, सर्वव्यापक और सभी भूतों को अन्तरात्मा ऐसा एक एक ही देव है।'

उसी एक परमात्मा ने बहुत होने की इच्छा से ईक्षण किया और विभिन्न रूपों में इस सृष्टि को प्रकट किया। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध होती है और जब उनमें अभिन्नता है तभी तादात्म्य हो सकता है. यदि भिन्नता होगी तो तादात्म्य कैसे होगा। द्रव में द्रव मिल सकता है. परन्तु द्रव पदार्थ का शुष्क पदार्थ में मिलना कठिन होता है। उसी प्रकार द्रव पदार्थ में भी तेल और जल परस्पर मिल जाँय तो वह मिलना स्वाभाविक नहीं होगा। तब उनमें तादात्म्य का होना कैसे कह सकेंगे ?

तादात्म्य वह है जो मिलन के पश्चात् पृथक न हो सके। उन दोनों को एक दूसरे में पूर्ण रूप से अन्तर भाव हो जाय। यदि ऐसा नहीं होता तो वह पुनरावृत्ति का कारण बन जायगा। उस अवस्था जब जन्म-मरण का बन्धन जकड़ लेगा, तब भक्ति का पुण्य-फल कब कार्य में आयेगा ? और भक्त को तो उसकी पराभक्ति के फल-स्वरूप सामुज्य मोक्ष मिलता है, उसकी प्राप्ति भी तभी सम्भव है जब कि भक्त और भगवान् में अनन्यता हो।

भगवान् की निरन्तर उपासना

भगवान् ने भक्तों को आदेश दिया है कि निरन्तर ध्यान करते हुए मेरी उपासना करो (मां ध्यायन्त उपासते) अर्थात् चित्त को मुझ में इस प्रकार लगा दो, जिससे कि

उसकी समस्त वृत्तियां मुझ में लग जांय। मेरे अतिरिक्त किसी अन्य का ध्यान भी न रहे। जैसे कि ब्रज की गोपियाँ गृहस्थ में रह कर भो मेरा ही ध्यान करती रहती थीं। वे सायंकाल गोधूलि वेला में मार्ग पर टकटकी लगाये बैठीं रहती थीं, क्योंकि वे जानती थीं कि भगवान् गोएं चरा कर लौट ही रहे होंगे—

रसना हरि-रटना लगी छिन-छिन परत न चैन।
पिया हेतु पथ पै बिछे बाट जोहते नैन ॥

और यही हाल मीराबाई का था। राजरानी मीरा प्रभु-प्रेम में पागल बनी 'मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरा न कोई' गाती हुई नाचती फिरती थी। उसे न तो अपने पद का ध्यान था, न पारिवारिक नियम की कोई चिन्ता। वह महलों को छोड़कर घर-घर में प्रभु-प्रेम का सन्देश पहुँचाती हुई घूमती थी।

यह सब क्या था ? भगवान् के आदेश का अक्षरशः पालन, 'माँ ध्यायन्त उपासते' का पूर्ण-रूप से आचरण। ध्यान में तन्मयता का उत्कृष्ट स्वरूप गोपियों और मीरा के चरित्र में मिलता है। और फिर गोपियों और मीरा में ही क्यों, और भी बहुत से भक्त ऐसे हो चुके हैं, जिनकी अनन्य भक्ति ने भगवान् को अपनी ओर बल पूर्वक खींच लिया था। जैसे द्रौपदी, उसे पाँचों पतियों के होते हुए एक मात्र भगवान् का ही भरोसा था दुःशासन ने जब उसे नग्न करने का प्रयत्न किया, उस समय वह अनन्य भाव से भगवान् का ही चिन्तन करने लगी—

दुष्ट दुसासन दुसह अति, पांचों पति है मौन।
तुम बिन मेरी लाज अब, औरु बचावै कौन ॥

इसके पश्चात् तो उसे यह ध्यान ही नहीं रहा कि उस सभा में हो क्या रहा हैं। द्रौपदी का चीर ऐसा बढ़ा कि दुःशासन उसे खींचता-खींचता थक गया, परन्तु उस चीर का ओर-छोर ही नहीं मिला। वह क्या जानता था कि इस चीर में एक भक्त हृदय का अनन्य भाव भरा हुआ है।

अनन्य भाव की सिद्धि का उपाय

अब प्रश्न यह हो सकता है कि उस प्रकार का अनन्य भाव किस प्रकार सिद्ध हो ? क्योंकि गोपियों और द्रोपदी के समान अनन्य भाव की उत्पत्ति सब में तो हो नहीं सकती, मीरा जैसा निश्चल प्रेम करना सभी स्त्री, पुरुषों के वश की बात तो हो नहीं सकती ? तो इसका उत्तर नारद भक्तिसूत्र (१०) में दिया है—'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता' अर्थात् 'भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य आश्रय का त्याग ही अनन्यता है।' इसका अभिप्राय है कि चित्त को भगवान में स्थिर करने का प्रयत्न करो। परन्तु चित्त बड़ा चंचल है, आप उसे पकड़ कर बार-बार बंठायेंगे और वह जंसे ही अवसर मिलेगा, आपके बन्धन से छूटकर भाग निकलेगा। इसलिए उस चित्त को ही स्थिर करने में जुट जाओ।

आप कहेंगे कि चित्त का एकाग्र करना कोई हंसी-खेल तो है नहीं, वह तो जब तक विषयों की प्रत्यक्षता अथवा उनका चिन्तन रहेगा, उनकी ओर दौड़ेगा ही। उसके स्वभाव की चंचला कभी इस विषय में और कभी उस विषय में भ्रमाती ही रहेगी, उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक भौंरा विभिन्न कलियों का रस चूंसता फिरता है।

परन्तु, असम्भव कुछ भी नहीं है, केवल साहस चाहिए, दृढ़ निश्चय की आवश्यक होती है ऐसे साधकों को। भगवान् तो सदा ही भक्तों के वश में रहते हैं, उन्हें अपने भक्त से विशुद्ध प्रेम के अतिरिक्त कुछ चाहिए भी नहीं। फिर तुम ऐसे भक्त वत्सल भगवान् के लिए अपना अनन्य प्रेम भी अर्पण नहीं करना चाहते ?

इसमें यह कहा जा सकता है कि हम अपना अनन्य प्रेम अर्पण करना भी चाहें तो चंचल चित्त वैसा नहीं करने देता। वही तो विवश किए हुए है प्राणो मात्र को। तो इसका समाधान करती है गीता। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं ही इसका उपाय बता देते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छप्तुं धनंजय॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! यदि तू मन को मेरे में स्थिर रूप से स्थापित करने में समर्थ नहीं है तो अभ्यास रूप योग के द्वारा मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर।

विघ्नों की उपेक्षा ही सफलता की कुंजी

'अभ्यास योगेन' अभ्यास के योग से चंचल मन स्थिर होने लगता है। योगियों के लिए वह अभ्यास यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के रूप में आठ योगांगों का होता है, जब कि भक्त के लिए वैसा घोर परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि भक्त के आचरण में यम, नियम का पालन तो स्वतः सिद्ध हो जाता है और आसन, प्राणायाम आदि की क्रिया इसमें अपेक्षित नहीं होतो। भक्त का अभ्यास योग तो केवल भगवान के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन,

मनन, शास्त्रों का अध्ययन एवं जप आदि का प्रयत्न ही है। जब इसमें परिपक्वता आने लगती है तभी अभिप्राय की सिद्धि होने लगती है। अन्त में वही सिद्धि आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य को सम्पन्न करने में सहायक होती है।

कैवल्य अवस्था तक पहुँचने के लिए साधक को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है। उनकी ओर संकेत करते हुए हरिवंश पुराण में कहा गया है—

रसात्मकं तदैश्वर्यं विकारान्ते प्रदश्यते।
घोर रूपा विकारास्ते व्यथयन्ति महात्मनः॥

अर्थात्—इस प्रकार रसात्मक ज्ञान और उसके सर्वोच्च लक्ष्य पर पहुँचते-पहुँचते अनेक प्रकार के घोर विकार-विघ्न साधक को व्यथित करते हैं।

यदि उन विघ्नों की दृढ़ता पूर्वक उपेक्षा की जाय तो साधक अपने मार्ग से विचलित नहीं होता और धीरे-धीरे भगवान् के प्रति अनन्य भाव से बढ़ता चला जाता है। उसकी दृढ़ता के लिए यम, नियम आदि का पालन करना और सन्तजनों एवं हरि भक्तों की संगति करनी चाहिए। मैं-मेरे के अहंकार का त्याग आवश्यक है। आत्मा गुणातीत है, वह किसी विकार से लिप्त नहीं होता, शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, जब तक उसे संसार में रहना है, तभी तक शरीर का और आत्मा का साथ रहता है। फिर शरीर मर जाता है, आत्मा नहीं मारता। वह अमर है, उसका और परमात्मा का अभेद सम्बन्ध है। यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे अनुभव या ज्ञान से ही जाना जा सकता है और इसे जानकर स्वयं को ईश्वर से भिन्न न मानना और ईश्वर में अनन्य भाव रखना ही आत्म-निवेदन कहलाता है। भक्ति-मार्ग में आत्म-निवेदन का अत्यन्त

महत्व माना गया है, क्योंकि आत्म-निवेदन से ही अनन्य भाव और समर्पण भाव की प्राप्ति सम्भव है।

आत्म-निवेदन के बिना जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता। भक्ति का प्रमुख भाग आत्म-निवेदन ही है। जब भक्त को यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा में अभेद है, तब वह परमात्मा से ऐक्य-प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है, जिससे परिपुष्ट हुई भक्ति सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति कराती है।

आत्मज्ञान से भगवत्साक्षात्कार

आत्मज्ञान से सम्पन्न साधक विवेक की सहायता से इस दुस्तर संसार-सागर को पार करने में सफल होता है। वह सदा शुभ कर्मों का आचरण करता हुआ सद्‌गुणों के विकास में तत्पर रहता है। उसे उसके संकल्प की शक्ति से दृश्य जगत् की लिप्तता प्राप्त नहीं होती। जैसे जल में पड़े हुए कमल जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही ईश्वर के रूप में प्रवेश प्राप्ति का प्रयत्न करने वाला योगी सांसरिक विषयों से अलिप्त रहता है। उसे शरीर की कोई चिन्ता नहीं होती, इसलिए शरीर की उपेक्षा और ईश्वर की ही अपेक्षा करता है। 'तद्विष्णोः परमं पद ँ सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीब चक्षुराततम्' (यजुर्वेद ६।५) अर्थात् 'मेधावीजन भगवान् विष्णु के मोक्ष रूप परम पद को ही सदा देखते हैं, उन विष्णु ने ही सूर्यमण्डल में नेत्र रूप सूय को प्रवृद्ध किया है।'

कुछ विद्वान् 'दिवीव चक्षुराततम्' का अभिप्राय दिव्य दृष्टि की वृद्धि मानते हैं और उनके अनुसार इसका अर्थ यह लगेगा कि 'भगवान् विष्णु के मोक्षरूप परम पद को सदा देखने वाले मेधावी पुरुषों के नेत्रों में दिव्य दृष्टि की वृद्धि

होती है।' इस प्रकार जो साधक भगवान् की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं, उन्हें भगवत्साक्षात्कार के लिए दिव्य दृष्टि की प्राप्ति हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है।

यही बात ईश्वर भक्ति में तन्मय एवं प्रभु-परायण भक्त के विषय में समझनी चाहिए। उसे भी भगवद्दर्शन की आकांक्षा में शरीर की सुधि-बुधि नहीं रहती और उस समाधि की अवस्था में वह अपने प्रभु के साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त कर पूर्ण रूप से धन्य हो जाता है।



मुद्रक : यमुना प्रिंटिंग प्रेस, आर्य समाज रोड, मथुरा.

अत्यन्त उपयोगी प्रक

1—योग चिकित्सा २ खण्ड ...
२—प्राणायाम के असाधारण प्रयाग ...
३—योगासन से रोग निवारण ...
४—सूर्य नमस्कार से रोग निवारण ...
५—अष्टाङ्ग योग सिद्धि ...
६—अष्टाङ्ग याग रहस्य ...
७—हठयाग प्रदीपिका ...
८ घेरड सहिता ...
९— शिव संहिता ...
१०—गोरक्ष सहिता ...
११—बृहद् शिव स्वरादय ...
१२—सौ वर्ष तक स्वस्थ रहें ...
१३—हिप्नोटिज्म (सम्मोहन विज्ञान) ...
१४—मरने के बाद ...
१५—सरल प्राकृतिक चिकित्सा विधान ... ५)
१६—सरल घरेलू चिकित्सा ... ४)५०
१७—भोजन से स्वास्थ्य ... ४)५०
१८—ब्रह्मचर्य की प्रचण्ड शक्ति ... ३)
१९—शक्ति सम्राट कैसे बनें ? ... ३)५०
२०—दृष्टान्त सरित सागर ... ८)५०
२१—चिन्तायें कैसे दूर हों ? ... ३)५०
२२—देवता कैसे बनें ? ... ३)५०
२३—सुन्दर कैसे बनें ? ... ३)५०
२४—धनवान कैसे बनें ? ... ४)५०
२५—चाणक्य नीति ... २)२५
२६—भर्तृहरि शतक त्रय ... १)६५

प्रकाशक:-संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर,
बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)

अक्ति